श्रीलक्ष्मीहयवदनपरब्रह्मणे नमः।

श्रीमद्विद्वद्वर-वरदराजाचार्यविरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

नत्त्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्।।

श्रीधरमुखोल्लासिनी

श्रीश्रीनिवासमुक्तिनारायणरामानुजयतिभ्यो नमः।।

स्वाचार्यं श्रीधरं शान्तं षडाचार्यं यतिं गुरुम्।
श्रीनिवासं मुक्तिनारायणं रामानुजं भजे।।
मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिशील्य च।
लघुसिद्धान्तकौमुद्याष्टीकां कुर्वे मनोहराम्।।

लघुसिद्धान्तकौमुदी के प्रारम्भ में कौमुदीकर्ता वरदराजाचार्य ने नत्त्वा सरस्वतीं देवीम् इस श्लोक से मङ्गलाचरण किया है। मंगलाचरण के तीन प्रयोजन हैं- १. प्रारम्भ किये जाने वाले कार्य में विघ्न न आयें अर्थात् विघ्नों का नाश हो, २. ग्रन्थ पूर्ण हो जाय और ३. रचित ग्रन्थ का प्रचार-प्रसार हो।

यह प्रश्न उदित होता है कि मङ्गलाचरण तो ईश्वर की स्तुति-रूप है, उसको ग्रन्थारम्भ के समय विशेष तरीके से ध्यानावस्थित होकर या वैदिक मन्त्रों का उच्चारण आदि करके ग्रन्थ के बाहर कर सकते हैं, तो ग्रन्थ के आदि में ही क्यों लिखें? उत्तर यह है कि मङ्गल तो विघ्नविनाश आदि के लिए ही किया जाता है और वह ग्रन्थ के बाहर भी भगवान् की स्तुति आदि करने से हो सकता है, तथापि ग्रन्थलेखन, अध्ययन, शुभकार्य आदि के प्रारम्भ में **मङ्गलाचरण अवश्य करना चाहिए**, इस बात की भी शिक्षा देना चाहते हैं ग्रन्थकार। इसलिए अपने ग्रन्थ में ही मङ्गलाचरण को भी जोड़ देते हैं।

मङ्गलाचरण तीन प्रकार के होते हैं-

१- नमस्कारात्मक मंगल, जिसमें अपने-अपने आराध्यदेव की स्तुति, प्रार्थना, वन्दना आदि की जाती है।

अथ संज्ञाप्रकरणम्

माहेश्वरसूत्राणि

१.अइउण्। २.ऋलृक्। ३.एओङ्। ४.ऐऔच्। ५.हयवरट्। ६.लण्। ७.ञमङणनम्। ८.झभञ्। ९.घढधष्। १०.जबगडदश्। ११.खफछठथचटतव्। १२.कपय्। १३.शषसर्। १४.हल्।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः।
हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।

....

२- **आशीर्वादात्मक मंगल,** जिसमें किसी प्रिय व्यक्ति या ग्रन्थ के अध्येताओं की मंगलकामना की गई होती है।

३- **वस्तुनिर्देशात्मक मंगल,** जिसमें ग्रन्थ के मूल विषय एवं उसके लक्ष्य का निर्देश होता है।

कहीं केवल **नमस्कारात्मक मंगल** होता है तो कहीं **आशीर्वादात्मक** या **वस्तुनिर्देशात्मक मंगल**। कहीं-कहीं दोनों, तीनों मंगलों का भी समावेश मिलता है। यहाँ पर **नत्त्वा सरस्वतीं देवीम्** इस वाक्य से **नमस्कारात्मक मंगल** एवं **पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्** से **वस्तुनिर्देशात्मक मंगल** हुआ है।

पदच्छेदः- नत्त्वा अव्ययपदं, सरस्वतीं द्वितीयान्तं, देवीं द्वितीयान्तं, शुद्धां, द्वितीयान्तं, गुण्यां द्वितीयान्तं, करोमि क्रियापदम्, अहं प्रथमान्तं, पाणिनीयप्रवेशाय चतुर्थ्यन्तं, लघुसिद्धान्तकौमुदीं द्वितीयान्तम्।

समासः- पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं व्याकरणशास्त्रम्। पाणिनीये प्रवेशः पाणिनीयप्रवेशः। तस्मै पाणिनीयप्रवेशाय। सप्तमीतत्पुरुषः। (वैयाकरणानां) सिद्धान्तानां कौमुदी सिद्धान्तकौमुदी, लघ्वी चासौ सिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी। षष्ठीतत्पुरुषगर्भकर्मधारयः।

अन्वयः- अहं शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्त्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि।

मङ्गलपद्यार्थः- मैं (वरदराजाचार्य) शुद्ध स्वरूप वाली, प्रशस्त गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार करके पाणिनि जी के व्याकरणशास्त्र में सरलता से प्रवेश के लिए लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना करता हूँ।

इति माहेश्वराणि[१] सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। महेश्वर की कृपा से प्राप्त ये चौदह सूत्र अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए हैं।

टिप्पणी(१) सृष्टिकाल से आज तक उपलब्ध व्याकरणों में **पाणिनीयव्याकरण** ही सर्वोत्कृष्ट है। इसके विकल्प तो अन्य व्याकरण हो सकते हैं किन्तु इसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। तुलना दो तरह से हो सकती है- प्रथम तो बराबरी दिखाने के लिए और द्वितीय दोनों में अन्तर दिखाने

अइउण् आदि ये चौदह सूत्र महेश्वर की कृपा से पाणिनि जी को प्राप्त हुए हैं, इनसे अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि की जाती है।

एषामन्त्या इतः। इनके अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक हैं।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। हकार आदि में पठित अकार उच्चारण के लिए है।

लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः। **लण्** इस छठे सूत्र में पठित अकार इत्संज्ञक है, उच्चारणार्थ नहीं।

विवरणः- अइउण् आदि ये चौदह सूत्र हैं इसलिए इन्हें **चतुर्दशसूत्र** कहते हैं। इनसे प्रत्याहार बनाये जाते हैं, अतः इन्हें **प्रत्याहारसूत्र** भी कहते हैं। भगवान शंकर के डमरु से निकल कर पाणिनि जी को प्राप्त हुये हैं, अतः इन्हें **शिवसूत्र** कहते हैं और व्याकरणशास्त्र में प्रारम्भिक **ककहरा** हैं अर्थात् बालक को सबसे पहले **ककहरा** अर्थात् वर्णमाला की शिक्षा दी जाती है। ये संस्कृतभाषा में **ककहरा** अर्थात् वर्णमाला हैं। ये वेदतुल्य हैं, इसलिए **वर्णसमाम्नाय** भी कहते हैं। छात्र इनको अच्छी तरह से रट लें। इसके बाद प्रत्येक सूत्र के अन्तिम अक्षरों को छोड़कर उच्चारण करने का भी अभ्यास कर लें। जैसे- **अ, इ, उ। ऋ, ऌ। ए, ओ। ऐ, औ। ह्, य्, व्, र्। ल। ञ्, म्, ङ्, ण्, न्। झ्, भ्। घ्, ढ्, ध्। ज्, ब्, ग्, ड्, द्। ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्। क्, प्। श्, ष्, स्। ह्।**

ऐसी प्रसिद्धि है कि **पाणिनि जी** ने व्याकरण की रचना करने की शक्ति प्राप्त

के लिए। **पाणिनीयव्याकरण** से बराबरी दिखाने के लिए कोई व्याकरण नहीं है। अतः इस तरह की तुलना ही व्यर्थ है किन्तु अन्य व्याकरणों से इस व्याकरण में कितना अन्तर है? इस बात को जानने के लिए अवश्य तुलना कर सकते हैं।

इस व्याकरण के रचयिता **महर्षि पाणिनि** हैं। कठोर साधना के बाद ईश्वरीय कृपा से उन्होंने व्याकरण के लिए सूत्र बनाये। पाणिनि के द्वारा रचित सूत्रों की संख्या लगभग ४००० हैं। सूत्रों की संख्या में मतभेद है, क्योंकि कहीं-कहीं योगविभाग करके एक ही सूत्र को दो सूत्र भी माना गया है। अतः कई विद्वानों में मत में सूत्रों की संख्या केवल **३९६५** ही है तो कुछ लोग इससे ज्यादा मानते हैं। हाँ ४००० से ऊपर नहीं है और **३९६५** से नीचे नहीं है। इस लिए **लगभग ४०००** हैं, ऐसा कहना ही ठीक है। इन सूत्रों के साथ **धातुपाठ** में लगभग २००० धातुएँ हैं। **पाणिनि** जी ने **सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन** और **पाणिनीय शिक्षा** ये पाँच विषयों से पूर्ण व्याकरण बनाया था।

पाणिनि जी के द्वारा सूत्रों में उस समय जो न्यूनताएँ दृष्टिगोचर हुईं, उनकी पूर्ति के लिए **कात्यायन** जी ने **वार्तिक** बनाये। **सूत्र** और **वार्तिकों** की व्याख्या के रूप **महर्षि पतञ्जलि** ने विशालतम **महाभाष्य** लिखा। **अष्टाध्यायी** के क्रम से **काशिका** आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये। बाद में अष्टाध्यायी के क्रम से भिन्न किन्तु अष्टाध्यायी के सूत्रों को लेकर रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी आदि ग्रन्थों की रचना हुई। प्रक्रियाग्रन्थों में आज **भट्टोजिदीक्षित जी** की रचना **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** अतिप्रसिद्ध है जिसमें **पाणिनि** जी के समस्त सूत्रों का समावेश है, जिसके समग्र अध्ययन के पश्चात् शब्दप्रक्रिया का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसके बाद इनके ही शिष्य **वरदराजाचार्य जी** ने **सारसिद्धान्तकौमुदी, लघुसिद्धान्तकौमुदी** और **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** की रचना की। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** का आज व्यापक प्रचार है, जिसमें **पाणिनि जी** के १२७६ सूत्रों का उपयोग किया गया है। इसके बाद मैं ने भी धृष्टता करके **ऋजुसिद्धान्तकौमुदी** बनाई है जिसमें **पाणिनि जी** के केवल ६०० सूत्रों का उपयोग किया गया है। यह अत्यन्त प्रारम्भिक छात्रों के लिए ही उपयुक्त है।

करने के लिये हिमालय पर जाकर तपस्या की थी। उनकी कठोर तपस्या से **भगवान शंकर** प्रसन्न हुये और उनकी तपस्या को पूर्ण करने के लिये उनके सामने प्रकट होकर नृत्य किया। नृत्य करते समय **भगवान शंकर** के **डमरु** से ये चौदह सूत्र निकले। **पाणिनि** जी ने इनको ग्रहण किया और **भगवान शंकर** का **वरदान** समझकर यहाँ से प्रारम्भ करके लगभग **४०००** सूत्रों वाली **पाणिनीयाष्टाध्यायी** की रचना की। कहते हैं कि **भगवान शंकर** से जब इन्होंने ये चौदह सूत्र प्राप्त किया तो इन सूत्रों के अन्त्य में जो **ण्, क्, ङ्, च्** आदि **हल्** वर्ण लगे हुये हैं, ये नहीं थे। इन हल् वर्णों को **पाणिनि** जी ने प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए अपनी ओर से लगाया है।

इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन बता रहे हैं- **इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।** (सूत्राणि+अणादि=सूत्राण्यणादि) संसार में मूर्ख से भी मूर्ख व्यक्ति किसी काम में लग जाता है तो उसका कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। प्रयोजन के विना कोई भी व्यक्ति किसी भी काम में नहीं लगता। **पाणिनि** जी परम ज्ञानी थे और **शंकर भगवान** भी **योगेश्वर** माने जाते हैं। **पाणिनि जी** की तपस्या और **शंकर भगवान** का वरदान ये दोनों व्यर्थ नहीं थे। इनका कोई न कोई प्रयोजन तो था ही। **पाणिनि जी** का प्रयोजन **व्याकरण-शास्त्र** की रचना थी और उन्हें ये चौदह सूत्र प्राप्त हुये हैं। इनका क्या प्रयोजन है? मूल में कहा गया है- इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन **अण्, अच्** आदि प्रत्याहारों की सिद्धि है। इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जाते हैं। प्रत्याहार बनाने की प्रक्रिया आगे बताएंगे। प्रत्याहारों से अनेक सूत्रों द्वारा प्रयोगों की सिद्धि की जायेगी।

इन चौदह सूत्रों के अन्त्य में लगे हुए हल् अक्षर किन्हीं विशेष प्रयोजन के लिए हैं। एतदर्थ उनकी विशेष संज्ञा की जायेगी- **एषामन्त्या इतः।** इन चौदह सूत्रों के अन्त्य में लगे हुये **ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्, य्, र्, ल्** इन वर्णों की **इत्संज्ञा** की जाती है। जो **अन्त** में रहे उसे **अन्त्य** कहते हैं। संज्ञा **नाम** को कहते हैं। **इत्** नामक **संज्ञा** इनकी होगी अर्थात् ये **इत्** नाम वाले कहलाते हैं। व्याकरण में संज्ञा, संज्ञक और संज्ञी का व्यवहार जगह-जगह पर किया जाता है। **नाम** को **संज्ञा** और **नाम वाले** को **संज्ञक** या **संज्ञी** कहते हैं। जैसे आप में से किसी का नाम **पुरुषोत्तम** हो तो यह शब्द **संज्ञा** है और पुरुषोत्तम नाम वाला शरीरधारी **संज्ञक** या **संज्ञी** है। अर्थात् आप **पुरुषोत्तम-संज्ञक** या **पुरुषोत्तम-संज्ञी** है। इसी प्रकार अन्त्य वर्ण **इत्संज्ञक** अर्थात् **इत्संज्ञी** है और **इत्** संज्ञा है। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य वर्णों की **इत्संज्ञा** करने का फल भी **प्रत्याहार** बनाना ही है जिसकी प्रक्रिया आगे दिखाएंगे।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। संस्कृत-भाषा के वर्णमाला में जितने अक्षर हैं उनको दो भागों में बाँटा गया है- **स्वर** एवं **व्यञ्जन।** **स्वर** को **अच्** और **व्यञ्जन** को **हल्** कहते हैं। **अं, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ** ये **स्वर** हैं तथा **क्, ख्** से लेकर **ज्ञ्** तक के वर्ण **व्यञ्जन** हैं। ये **व्यञ्जन** अर्थात् हल् अक्षर **क, ख, ग, घ, ङ** ऐसे न होकर **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ऐसे हैं। इनका ठीक तरह से उच्चारण हो, इसलिए इन वर्णों के बाद **स्वर** वर्ण लगाये जाते हैं। जैसे- क्+अ=**क**, क्+आ=**का**, क्+इ=**कि**, क्+ई=**की**, क्+उ=**कु**, क्+ऊ=**कू**, क्+ऋ=**कृ**, क्+ऌ=**क्ऌ**, क्+ए=**के**, क्+ऐ=**कै**, क्+ओ=**को**, क्+औ=**कौ**, क्+अं=**कं**, क्+अः=**कः**। इसी प्रकार ख्+अ=**ख** आदि आगे भी जानें।

इत्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१.　　हलन्त्यम् १।३।३।।

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात्।

उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

....

इस तरह से यह स्पष्ट हो गया कि **हयवरल** आदि में **ह्, य्, व्, र्, ल्** के साथ **अकार** जोड़कर उच्चारण किया गया है। इनमें उच्चारित अवर्ण केवल उच्चारण के लिये है। जहाँ **ह्** आदि वर्णों का प्रत्याहार आदि के माध्यम से प्रयोग होगा तो वहाँ **अकार** का ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु केवल हल् वर्ण मात्र गृहीत होता है।

१- हलन्त्यम्। हल् प्रथमान्तम्, अन्त्यं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **उपदेश** और **इत्** इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है।

उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है।

इस सूत्र का कार्य है **हल्** अक्षरों की **इत्संज्ञा करना**। उपदेश अवस्था में विद्यमान हल् प्रत्याहार अर्थात् हल् वर्णों की इत्संज्ञा इस सूत्र के द्वारा होती है। हम पहले भी बता चुके हैं कि **इत्** एक नाम है। इसके द्वारा उन हल् अक्षरों को **इत्** नाम से जाना जायेगा।

वाक्य के अर्थ को जानने के लिये वाक्य के प्रत्येक पदों का, प्रत्येक शब्दों का भी अर्थ जानना जरूरी है। इस सूत्र के अर्थ में **उपदेशे, अन्त्यं, हल्, इत्, स्यात्** ये पाँच पद हैं। अतः प्रत्येक का अर्थज्ञान जरूरी है।

उपदेश आद्योच्चारणम्। पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं अर्थात् पाणिनि, कात्यायन, एवं पतञ्जलि ने जिसका प्रथम उच्चारण या प्रथम पाठ किया उसे उपदेश नाम से जाना जाता है। यहाँ **अइउण्** आदि चौदह सूत्रों को **आचार्य पाणिनि** जी ने अपने व्याकरण के अंग के रूप में प्रथम बार उच्चारण किया। अतः ये चौदह सूत्र भी उपदेश कहलाये। **उपदेश** के सम्बन्ध में एक पद्य अति प्रचलित है।

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।

भू आदि धातु, अइउण् आदि सूत्र, उणादिसूत्र, वार्तिक, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश ये **उपदेश** माने जाते हैं।

अन्त में उच्चारित वर्ण **अन्त्य** कहलाते हैं। अतः **अइउण्** में **ण्** वर्ण अन्त्य है, **ऋलृक्** में **क्** वर्ण अन्त्य है, एओङ् में ङ् वर्ण अन्त्य है। ये वर्ण **हल्** प्रत्याहार में आते हैं, इसलिये इन्हें **हल्** या हल् वर्ण कहा जाता है।

पाणिनीय सूत्रों की विशेषता को बता रहे हैं- **सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।** सूत्रों में अर्थ को पूरा करने के लिए जो पद कम हो, उसे आवश्यकतानुसार अन्य सूत्रों से ले लेना चाहिए। जैसे **हलन्त्यम्** इस सूत्र में **उपदेशे** और **इत्** ये दो पद **पाणिनीयाष्टाध्यायी** के क्रमानुसार इससे पहले के सूत्र **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से लाये गये हैं। इसी तरह सभी सूत्रों में समझना चाहिए। इस तरह सभी पद सभी सूत्रों में पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी किन्तु पूर्वसूत्र से आवश्यकता अनुसार ले लिया जाता है।

हलन्त्यम् इस सूत्र की वृत्ति पठित शब्दों का अर्थ देखें- **इत्** एक **संज्ञा** है। **स्यात्**

लोपसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२. अदर्शनं लोपः १।१।६०॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

....

यह एक **क्रियापद** है जिसका अर्थ है होवे। इस प्रकार से प्रत्येक पदों का अर्थ जान लेने के बाद **उपदेशे, अन्त्यं, हल्, इत्, स्यात्** इस वाक्य का अर्थ भी लग जायेगा- **उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है।**

यहाँ पर एक बात और भी जान लेना आवश्यक है कि **पाणिनि** ने जिन सूत्रों की रचना की, उन सूत्रों को आठ अध्यायों में रखा है। प्रत्येक अध्यायों में चार-चार चरण अर्थात् पाद बनाये। सूत्रों के बाद जो अंक लिखे गये हैं, उनमें **प्रथम अंक से अध्याय,** दूसरे अंक से उस **अध्याय के पाद** एवं तीसरे अंक से उस **पाद में सूत्रों की क्रमसंख्या** समझनी चाहिये। जैसे **हलन्त्यम् १।३।३॥** इस सूत्र में पहली संख्या **१** से **पहला अध्याय,** दूसरी संख्या **३** से पहले अध्याय का **तीसरा चरण** और तीसरी संख्या **३** से पहले अध्याय के तीसरे पाद का **तीसरा सूत्र।** इस प्रकार **हलन्त्यम्** यह सूत्र **प्रथम अध्याय के तीसरे पाद का तीसरा सूत्र** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार सभी सूत्रों में समझना चाहिए। सूत्रों में पूर्व, पर, सपादसप्ताध्यायी, त्रिपादी, सिद्ध, असिद्ध इत्यादि के लिए सूत्रों में लिखित अध्याय, पाद आदि की संख्या अत्यन्त उपयोगी है। इस तरह से याद रखने के लिए अष्टाध्यायी के क्रम से सुविधा होती है, क्योंकि वहाँ पर प्रकरण के अनुसार उन सूत्रों को तत्तत् अध्यायों में रखा गया है।

यह जिज्ञासा हो सकती है कि **हलन्त्यम् इस** सूत्र से **अन्त्य हल्** वर्णों की **इत्संज्ञा** की गयी इनका क्या प्रयोजन है? हाँ तो **भविष्यति किञ्चित् प्रयोजनमनेन** अर्थात् इतने बड़े विद्वान् के द्वारा की गई संज्ञा का जरूर कोई न कोई महान् प्रयोजन अवश्य होगा जिसे आप पढ़ते-पढ़ते समझ जायेंगे। आप जिज्ञासु बने रहें, आपकी शंकाओं का समाधान अवश्य हो जायेगा। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य हल् वर्णों की इस सूत्र से की गई इत्संज्ञा का प्रथम फल है **प्रत्याहार बनाना** जिसे हम आगे के सूत्रों में क्रमशः बतायेंगे।

अइउण्, ऋलृक् इत्यादि सूत्रों में **ण्, क्** इत्यादि हल्वर्णो की, **डुपचष् पाके** इत्यादि धातुओं में अन्त्य हल् वर्ण **ष्** आदि की, **नदट्, देवट्** इत्यादि गणपाठों में पठित शब्द के अन्त्य हल्वर्ण **ट्** आदि की, **तृन्, तृच्** इत्यादि प्रत्ययों के अन्त्य हल् वर्ण **न्, च्** आदि की इत्संज्ञा **हलन्त्यम्** से की जायेगी। इसके अतिरिक्त अनेक वर्णों की इत्संज्ञा की जाती है और इत्संज्ञा का करके प्रत्याहारसिद्धि, उदात्तादि स्वर का विधान आदि अनेक कार्य करने के बाद उसका **तस्य लोपः** इस सूत्र से लोप किया जाता है।

२- अदर्शनं लोपः। न दर्शनम्- अदर्शनम्, अदर्शनं प्रथमान्तं, लोपः प्रथमान्तं द्विपदमिदं सूत्रम्।

(पहले) विद्यमान का (बाद में) अदर्शन होना, न सुना जाना लोपसंज्ञक (लोपसंज्ञा वाला) होता है।

लोक में **लोप** का एक अर्थ **नाश** भी होता है किन्तु **पाणिनीय-व्याकरण-शास्त्र** में लोप का अर्थ **अदर्शन** माना गया है। **अदर्शन** अर्थात् जो न दीखे, जो न सुनाई पड़े।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३. तस्य लोपः १।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

प्रत्याहारसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

४. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१॥

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः।

....

वस्तुतः शब्द कभी दीखता नहीं है, अतः **अदर्शन** का अर्थ **अश्रवण** करना चाहिए। इसीलिए जो पहले सुनाई देता था और अब वह न सुनाई दे तो उसे **लोप** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पहले से था किन्तु बाद में किसी सूत्र आदि के द्वारा लुप्त हो जाय तो वह न तो कहीं दिखाई पड़ेगा और न ही वह सुनाई पड़ेगा। जो पहले से था उसी का ही लोप होता है, जो पहले से नहीं था, उसका क्या लोप करें! इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि **पाणिनीय-व्याकरण** में किसी भी अक्षर या शब्द का **विनाश** नहीं होता। जहाँ-जहाँ भी लोप का विधान किया गया वहाँ-वहाँ **अदर्शन** मात्र समझना चाहिए। यह सूत्र केवल **लोप** क्या है? इतना ही बताता है किन्तु लोप नहीं करता। **लोपविधायक** विधिसूत्र आगे कहा जा रहा है।

३- **तस्य लोपः**। तस्य षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है।

इत्संज्ञा के लिए प्रकरण के अनुसार अनेक सूत्र विद्यमान हैं। जिन वर्णों की **हलन्त्यम्** आदि सूत्रों के द्वारा **इत्संज्ञा** की जाती है, उनका यह सूत्र लोप करता है अर्थात् **अदर्शन** कर देता है। पूरे व्याकरण में इत्संज्ञा के बाद लोप करने के लिए केवल एक यही सूत्र है। **तस्य इतः**=उस इत्संज्ञक वर्ण का **लोपः स्यात्**=लोप होवे। इस प्रकार से **अइउण्** में **ण्** की, **ऋलृक्** में **क्** आदि की **हलन्त्यम्** सूत्र के द्वारा इत्संज्ञा की गई थी, उनका इस सूत्र से **लोप** हो जाता है। इस प्रकार चौदह सूत्रों में अन्त्य वर्ण की इत्संज्ञा और उसके बाद लोप करके **अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ, हयवर, ल, ञमङणन, झभ, घढध, जबगडद, खफछठथचटत, कप, शषस, ह** मात्र शेष बचते हैं। प्रत्याहारों में इन्हीं वर्णों का ग्रहण होगा, इत्संज्ञक वर्णों का नहीं।

णकारादि अन्त्य वर्णों का प्रयोजन- **णादयोऽणाद्यर्थाः। णादयः**=अइउण्, ऋलृक् आदि में जो णकार, ककार आदि पढ़े गये हैं, वे **अणाद्यर्थाः**= अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए हैं। अर्थात् प्रत्याहारों की सिद्धि करते समय इनका उपयोग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि **अइउण्** आदि चौदह सूत्रों के अन्त्य में जो हल् वर्ण लगे हुए हैं, उनका प्रयोजन प्रत्याहार की सिद्धि है।

४- **आदिरन्त्येन सहेता**। अन्ते भवः अन्त्यः। आदिः प्रथमान्तम्, अन्त्येन तृतीयान्तं, सह अव्ययपदम्, इता तृतीयान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में किसी पद की अनुवृत्ति आती नहीं है।

अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण मध्य के वर्णों का और अपना भी संज्ञा=बोधक होता है।

आदिरन्त्येन सहेता यह सूत्र **प्रत्याहार संज्ञा** करता है। जैसे अण् प्रत्याहार, अक् प्रत्याहार, अच् प्रत्याहार, अल् प्रत्याहार, हल् प्रत्याहार आदि। एक उदाहरण देखते हैं- जैसे आंग्लभाषा में **Doctor** का अर्थ होता है रोगों का चिकित्सक। ये अपने नाम के आगे **Dr.** लिखते हैं। जैसे- **Dr. Jeevan Sharma.** में लिखते तो हैं **Dr.** किन्तु हम समझते हैं **Doctor.** अर्थात् लिखते दो अक्षर हैं और समझते हैं छ अक्षरों का अर्थ। इसी प्रकार **Pandit** को **Pt.** लिखते हैं। ठीक इसी तरह पाणिनीय-व्याकरण में भी बहुत को संक्षिप्त में लिखने का नियम है। इसी को **प्रत्याहार** कहा जाता है।

सूत्रार्थ विचार- अन्त्येन इता सहित आदिः= अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण, जैसे **अइउण्** इस सूत्र में **ण्** की **हलन्त्यम्** इस सूत्र से इत्संज्ञा की गई थी। उसके साथ पढ़े गये वर्ण हैं **अ, इ, उ,** किन्तु इनमें आदि वर्ण है **अ**, वह आदि वर्ण, **मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्**= मध्य के **इ, उ** वर्णों का बोध कराता हुआ= जानकारी देता हुआ अर्थात् ग्रहण कराता हुआ स्वयं अपना अर्थात् **अ** का भी बोधक होता है। इस तरह **अण्** कहने से **अ, इ, उ** इन तीन वर्णों का बोध हुआ। अब जहाँ भी **अण्** कहा जायेगा उससे **अ, इ, उ** इन तीन वर्णों का ग्रहण हुआ करेगा। यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि **अइउण्** में **ण्** भी है तो प्रत्याहार में उसका बोध या ग्रहण क्यों नहीं होता? आपको याद दिला दूँ कि **ण्** इस अन्त्य हल् वर्ण की **हलन्त्यम्** इस सूत्र से इत्संज्ञा और उसका **तस्य लोपः** इस सूत्र से लोप हो गया है, अर्थात् **अदर्शन** हो गया है। तात्पर्य यह है कि न सुनाई पड़े और उसका ग्रहण न हो सके, ऐसा हो गया है। इसीलिए **अण्** के ग्रहण में **ण्** का ग्रहण नहीं होता।

अण् आदि प्रत्याहारों को साधने की प्रक्रियाः- अण् प्रत्याहार साधना है, इसकी स्थिति है **अइउण्**। इस स्थिति में सूत्र लगा- **हलन्त्यम्**। उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् वर्ण की इत्संज्ञा होती है। उपदेश अवस्था है- **अइउण्** और अन्त्य हल्वर्ण है- **अइउण्** का **ण्**। उसकी इत्संज्ञा हो गई अर्थात् उसका नाम **इत्** पड़ गया। इत्संज्ञा का फल है लोप। इत्संज्ञा के बाद लोप करने के लिये सूत्र आया **तस्य लोपः**। उस इत्संज्ञक वर्ण का **लोप** होता है। इत्संज्ञक वर्ण है **अइउण्** वाला **ण्**। उसका **लोप** अर्थात् अदर्शन हो जाय। इस तरह इस **इत्संज्ञक** वर्ण का **अदर्शन** अर्थात् **लोप** प्राप्त हुआ, परन्तु पहले लोप नहीं होता क्योंकि उच्चारण करके लोप ही करना था तो पहले उच्चारण ही क्यों किया गया? अतः उच्चारणसामर्थ्यात् अन्य कोई प्रयोजन भी इसका होना चाहिए और वह है प्रत्याहारसिद्धि। अतः प्रत्याहार सिद्ध करने के लिए सूत्र लगा- **आदिरन्त्येन सहेता**। अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण है- **अइउण्** वाला **ण्,** उसके सहित उच्चारित आदि वर्ण है **अ**। वह अर्थात् अन्त्य सहित आदि **अण्** यह समुदाय, मध्यवर्ती **इ, उ** वर्ण और आदि वर्ण **अ** का भी बोधक(संज्ञा) होता है। इस तरह से यह सूत्र **अण्** इस शब्द से आदि वर्ण **अ** और मध्यवर्ती वर्ण **इ, उ** का बोध करायेगा। इस प्रकार से **अण्** से **अइउ**, इन तीन वर्णों का ही बोध या ग्रहण अथवा श्रवण हो जाता है। प्रत्याहारसिद्धि के बाद **ण्** आदि इत्संज्ञक वर्णों का **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है। इसी लिए उस अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण का प्रत्याहारों में ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार **अण्** प्रत्याहार की साधना हो गई और **अण्** से या अण् प्रत्याहार से **अ-इ-उ** इन तीन वर्णों का बोध हुआ। इसी तरह से अन्य प्रत्याहारों की सिद्धि करनी चाहिए।

यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः। जिस प्रकार से **अण्** से **अ, इ, उ** इन वर्णों का बोध हुआ, उसी प्रकार से **अच्**. **हल्, अल्** आदि प्रत्याहारों के द्वारा मध्यवर्ती वर्ण तथा आदि वर्ण का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिए।

अच् प्रत्याहार की सिद्धिः- अच् प्रत्याहार की साधना करनी है तो इसकी स्थिति है- **अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्।** ऐसी स्थिति में सूत्र लगा- **हलन्त्यम्।** उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् वर्ण की इत्संज्ञा होती है। उपदेश अवस्था है- **अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्।** अन्त्य हल् वर्ण हैं- **अइउण्** का **ण्, ऋलृक्** का **क्, एओङ्** का **ङ्**, और **ऐऔच्** का **च्।** इन चारों हल् वर्णों की इत्संज्ञा इस सूत्र से हो गई अर्थात् उनका नाम **इत्** पड़ गया। **इत्संज्ञा** का फल प्रत्याहारसिद्धि है। अतः **तस्य लोपः** से पहले ही लोप हो जाय तो प्रत्याहार सिद्ध नहीं होंगे। इसलिए इसको बाधकर सूत्र लगा- **आदिरन्त्येन सहेता।** इस सूत्र के बल से आदि वर्ण सहित बीच के **अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ** इन नौ वर्णों का ही बोध या ग्रहण या श्रवण हो जाता है। इस प्रकार **अच्** प्रत्याहार की साधनी हो गई और **अच्** से या **अच् प्रत्याहार** से **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** इन नौ वर्णों का बोध हुआ। इसी प्रकार ४३ प्रत्याहारों की सिद्धि करना जानें। चौदह सूत्रों से प्रत्याहार तो सैकड़ों बन सकते हैं किन्तु पाणिनीय व्याकरण में केवल ४३ प्रत्याहारों का व्यवहार हुआ है, इसलिये ४३ प्रत्याहारों की ही सिद्धि करनी है। कुछ वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहार केवल ४२ ही होते हैं।

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में स्मरणीय कुछ बातें-

अच् प्रत्याहार में समस्त **स्वर** वर्ण आते हैं। ये **चार सूत्रों** से कहे गये हैं।
हल् प्रत्याहार में समस्त **व्यञ्जन** वर्ण आते हैं। ये **दस सूत्रों** से कहे गये हैं।
वर्गों के सभी पाँचवें वर्ण ञमङणनम् एक ही सूत्र और ञम् प्रत्याहार में आते हैं।
वर्गों के चौथे वर्ण दो सूत्रों **झभञ्, घढधष्** में तथा **झष्** प्रत्याहार में आते हैं।
वर्गों के तीसरे वर्ण **जबगडदश्** इस एक ही सूत्र में और जश् प्रत्याहार में आते हैं।
वर्गों के दूसरे एवं पहले वर्ण **खफछठथचटतव्, कपय्** इन दो सूत्रों में तथा **खय्** प्रत्याहार में आते हैं।

प्रत्याहार का प्रारम्भिक वर्ण **अ** जैसा आदि वर्ण तो होता ही है साथ में **इ** से भी इक्, इण् प्रत्याहार, उ से उक् आदि प्रत्याहार भी बनते हैं, अर्थात् इ से, उ से, लृ से, य् से, व् से, र् आदि मध्यवर्ती वर्णों से भी शुरुवात करके प्रत्याहार बनाये जाते हैं, क्योंकि यहाँ पर विवक्षित समुदाय का आदि और अन्त्य लिया जाता है।

पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त ४३ प्रत्याहारों में गृहीत वर्णों का क्रमः-

क्र.सं	प्रत्याहार	घटक वर्ण
१	अण्	अ, इ, उ।
२.	अक्	अ, इ, उ, ऋ, लृ।
३.	इक्	इ, उ, ऋ, लृ।
४.	उक्	उ, ऋ, लृ।
५.	एङ्	ए, ओ।
६.	अच्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ।
७.	इच्	इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ।

८.	एच्	ए, ओ, ऐ, औ।
९.	ऐच्	ऐ, औ।
१०.	अट्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्।
११.	अण्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्।
१२.	इण्	इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्।
१३.	यण्	य्, व्, र्, ल्।
१४.	अम्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।
१५.	यम्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।
१६.	ञम्	ञ्, म्, ङ्, ण्, न्।
१७.	ङम्	ङ्, ण्, न्।
१८.	यञ्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्।
१९.	झष्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्।
२०.	भष्	भ्, घ्, ढ्, ध्।
२१.	अश्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२२.	हश्	ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२३.	वश्	व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२४.	जश्	ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२५.	झश्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्।
२६.	बश्	ब्, ग्, ड्, द्।
२७.	छव्	छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्।
२८.	यय्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
२९.	मय्	म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
३०.	झय्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
३१.	खय्	ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्।
३२.	चय्	च्, ट्, त्, क्, प्।
३३.	यर्	य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्।
३४.	झर्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्।
३५.	खर्	ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्।
३६.	चर्	च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्।
३७.	शर्	श्, ष्, स्।

ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७॥

उश्च ऊश्च उ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

....

३८.	अल्	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
३९.	हल्	ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
४०.	वल्	व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
४१.	रल्	र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
४२.	झल्	झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह्।
४३.	शल्	श्, ष्, स्, ह्।

वर्ग विभाजन

कवर्गः- क्, ख्, ग्, घ्, ङ्।
चवर्गः- च्, छ्, ज्, झ्, ञ्।
टवर्गः- ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्।
तवर्गः- त्, थ्, द्, ध्, न्।
पवर्गः- प्, फ्, ब्, भ्, म्।

वर्गों के प्रथम अक्षर- क्, च्, ट्, त्, प्।
वर्गों के द्वितीय अक्षर- ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्।
वर्गों के तृतीय अक्षर- ग्, ज्, ड्, द्, ब्।
वर्गों के चतुर्थ अक्षर- घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्।
वर्गों के पंचम अक्षर- ङ्, ञ्, ण्, न्, म्।

५- ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। उश्च ऊश्च, ऊ३श्च वः(इतरेतरयोगद्वन्द्वः), वां काल ऊकालः, ऊकाल इव कालो यस्येति ऊकालः (बहुव्रीहिः) ह्रस्वश्च, दीर्घश्च, प्लुतश्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, ह्रस्वदीर्घप्लुतः। सौत्रं पुंस्त्वम्। समाहार द्वन्द्व होने के बाद नपुंसकलिङ्ग ही होना चाहिए, किन्तु सूत्र में पाणिनि ने कहीं-कहीं ऐसा नहीं किया है, अतः सूत्रत्वात् पुँल्लिङ्ग मान लिया जाता है। सूत्रों से अन्यत्र ऐसी जगहों पर पुँल्लिङ्ग नहीं हो सकता, नपुंसकलिङ्ग ही होता है। ऊकालः प्रथमान्तम्, अच् प्रथमान्तं, ह्रस्वदीर्घप्लुतः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

एक मात्रिक उकार, द्विमात्रिक ऊकार और त्रिमात्रिक उ३कार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले अचों की क्रमशः ह्रस्वसंज्ञा, दीर्घसंज्ञा और प्लुतसंज्ञा होती है।

उश्च ऊश्च उ३श्च वः। एकमात्रिक उ और द्विमात्रिक ऊ एवं तीनमात्रिक उ३ का **चार्थे द्वन्द्वः** से इतरेतरयोगद्वन्द्व समास करके प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्तिलोप, परस्पर में सवर्णदीर्घ करने पर ऊ रूप बनता है। उससे **जस्** प्रत्यय लाकर ऊ को यण् करके **वः** यह रूप सिद्ध होता है। **वः** का ही षष्ठ्यन्त रूप **वाम्** है। **ऊकालः** यह पद **अच्** का विशेषण है। उसीको बताने के लिए मूल में **वां काल इव कालो यस्य** ऐसा कहा गया। पर वह भी **ऊकालः** इस समस्त(समास किये हुए) पद का विग्रह नहीं है, अपितु फलितार्थकथन मात्र है। अतः **वां काल ऊकालः, ऊकाल इव कालो यस्य** ऐसा विग्रह करना चाहिए। यहाँ पर **काल** शब्द लक्षणावृत्ति से **मात्रावाची** है। अतः **ऊकालः**=तीनों उकारों का जो उच्चारण काल वाली मात्राएँ (**ऊकाल इव कालो यस्य**) ऐसी ही मात्राएँ हैं जिस अच् की, वह अच् क्रमशः **ह्रस्व, दीर्घ** और **प्लुत** संज्ञा वाला होता है।

प्रकृत सूत्र अच् अर्थात् स्वर वर्णों को मात्रा के आधार पर ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा करता है। अचों(स्वरों) में एक, दो, एवं तीन मात्राएँ होती हैं। अ, इ, उ, ऋ, लृ की मात्राएँ जिन्हें हिन्दी में छोटी मात्राएँ कहते हैं उनकी **ह्रस्वसंज्ञा** और आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ की मात्राएँ जिन्हें हिन्दी में बड़ी मात्रा कहते हैं, इनकी **दीर्घसंज्ञा** होती है। **तीन** मात्रा की **प्लुतसंज्ञा** होती है। लोक में एकमात्रिक एवं द्विमात्रिक का ही प्रयोग होता है, तीन मात्रा वाला वर्ण हिन्दी में कम प्रयुक्त होता है। केवल संस्कृत में सम्बोधन, प्रकृतिभाव आदि में तीनमात्रिक वर्ण का उच्चारण होता है तथा तीनमात्रिक को दिखाने के लिये वर्ण के बाद **३** का अंक लिखा जाता है। जैसे **इ३**। इस तीन मात्रा वाले वर्ण की **प्लुतसंज्ञा** होती है।

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक वर्णों का उच्चारण काल- प्रश्न यह आता है कि एक मात्रा, दो मात्राएँ और तीन मात्राएँ, इनका उच्चारण के समय एवं अनुपात क्या होना चाहिए? इतना तो स्पष्ट है ही कि एकमात्रिक के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका दुगुना समय द्विमात्रिक के उच्चारण में लगेगा और तिगुना समय तीन मात्रा वाले अच् में लगेगा। फिर भी एक प्रश्न उपस्थित होता है कि एक मात्रा वाले अच् में कितना समय लगाया जाय? इस पर प्राचीन विद्वानों के कई मत हैं। जैसे **पलकें झपकना, बिजली चमकना, नीलकण्ठ पक्षी की बोली आदि** को एकमात्रा उच्चारण काल माना है किन्तु मेरा मत यह है कि वर्णों के उच्चारण तीन प्रकार से होते हैं- **द्रुत, मध्यम और विलम्बित।** द्रुत अर्थात् अत्यन्त शीघ्रता के साथ उच्चारण, मध्यम उच्चारण एवं विलम्वित उच्चारण। आप किस प्रकार से उच्चारण कर रहे हैं? अत्यन्त शीघ्रता के साथ उच्चारण, मध्यम उच्चारण या विलम्बित उच्चारण! उसके अनुसार एकमात्रा के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका दुगुना समय दो-मात्रा के उच्चारण में लगायें और तिगुना समय तीन मात्रा वाले अच् में लगायें। अथवा यूँ कहा जाय कि ह्रस्व के उच्चारण में एक सेकेण्ड का समय तो दीर्घ के उच्चारण में दो सेकेण्ड का समय और प्लुत के उच्चारण में तीन सेकेण्ड का समय लगाया जाय। उच्चारण के इस अनुपात का बहुत ध्यान रखना चाहिए।

इस सूत्र के द्वारा प्रत्येक अच् की ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञा करके अचों (स्वरों) के तीन तीन भेद किए गए। इस प्रकार से अच् प्रत्याहार के प्रत्येक वर्ण तीन-तीन प्रकार के हुए- ह्रस्व अच्, दीर्घ अच्, एवं प्लुत अच्।

उदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

६. उच्चैरुदात्तः १।२।२९॥

अनुदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

७. नीचैरनुदात्तः १।२।३०॥

स्वरितसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

८. समाहारः स्वरितः १।२।३१॥

स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

....

६- **उच्चैरुदात्तः**। उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः प्रथमान्तं द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारित अच् की उदात्तसंज्ञा होती है।

७- **नीचैरनुदात्तः**। नीचैः अव्ययपदम्, अनुदात्तः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के निम्न भाग से उच्चारित अच् की अनुदात्तसंज्ञा होती है।

८- **समाहारः स्वरितः**। समाहारः प्रथमान्तं, स्वरितः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः से अच् की अनुवृत्ति आती है।

जहाँ उदात्त और अनुदात्त दोनों एकत्र बराबर हों, ऐसे अच् की स्वरितसंज्ञा होती है।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की सूक्ष्मता एवं उनका ज्ञान- जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के ऊर्ध्वभाग का प्रयोग हो उस अच् की **उदात्तसंज्ञा**, जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के निम्न भाग का प्रयोग हो उस अच् की **अनुदात्तसंज्ञा** और जिस अच् के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त का समान उपयोग किया गया हो तो उस अच् की **स्वरितसंज्ञा** का विधान इन तीन सूत्रों से हुआ। यद्यपि लौकिक हिन्दी आदि भाषाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की सूक्ष्मता पकड़ में नहीं आती किन्तु संस्कृत-भाषा में इनका महत्त्व अधिक है और खास करके वैदिक शब्दों के उच्चारण में। जिस प्रकार से ह्रस्व, दीर्घ के विपरीत होने पर बहुधा अर्थ भी भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विपरीत उच्चारण होने पर अर्थ का अनर्थ भी हो जायेगा। इस लिए वैदिक शब्दों के उच्चारण में इन स्वरों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्वरों के द्वारा समास आदि का भी निर्णय होता है। स्वरप्रकरण में प्रकृति, प्रत्यय, धातु, आदेश, आगम आदि में होने वाले स्वरों के विषय में विस्तृत चर्चा है। ये उदात्तादि स्वर अत्यन्त सूक्ष्म हैं। जो बहुत ही अनुभवी विद्वान् हैं, वे इनके भेद को आसानी से पकड़ लेते हैं किन्तु सामान्यज्ञानी लोगों को इन स्वरों का पता कठिनता से ही लग पाता है।

उच्चैरुदात्तः और **नीचैरनुदात्तः** इन सूत्रों में **उच्चैः** का अर्थ ऊँचे स्वर में और **नीचैः**

अनुनासिकसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८।।

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।
तदित्थम्- अ-इ-उ-ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः।
लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्।
एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

....

का अर्थ नीचे स्वर में बोलना ऐसा नहीं है, अन्यथा सूक्ष्म उच्चारण में उदात्त स्वर नहीं बन पायेगा।

जैसे ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत को समझने के लिये मात्राएँ लगी हुई होती हैं, उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को समझने के लिये वैदिक-ग्रन्थों में विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया है। अनुदात्त अक्षर के नीचे तिरछी लाईन, स्वरित के ऊपर खड़ी लाईन होती है और उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता है।

स नवविधोऽपि- **वह नौ प्रकार का अच् अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो-दो प्रकार का होता है।**

जैसे एक इ यह वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन-तीन प्रकार हुआ है। पुनः ह्रस्व भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का, इसी प्रकार से दीर्घ भी तीन प्रकार का और प्लुत भी तीन प्रकार का, इस तरह कुल मिलाकर नौ प्रकार का हुआ। वह नौ प्रकार का अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो दो प्रकार का हो जाता है। नौ अनुनासिक और नौ अननुनासिक करके कुल अठारह प्रकार का हो जाता है। यही प्रक्रिया सभी अचों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

स नवविधोऽपि का अर्थ यह समझना चाहिए- **वह नौ या छः प्रकार का अच्।** ऐसा मानने का प्रयोजन आगे स्पष्ट होगा।

९- मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। उच्यते इति वचनः। मुखसहिता नासिका मुखनासिका (मध्यमपदलोपिसमासः), तया वचनः(उच्चारितो वर्णः) स मुखनासिकावचनः (तृतीयातत्पुरुषः)। मुखनासिकावचनः प्रथमान्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

मुख और नासिका से एक साथ उच्चारित होने वाले वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होते हैं।

वास्तव में वर्णों का उच्चारण तो मुख से ही होता है किन्तु **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्,** आदि वर्ण और अनुनासिक (अँ, इँ, उँ आदि) तथा अनुस्वार (अं, इं, उं आदि) के उच्चारण में **नासिका**(नाक) की भी सहायता चाहिए। **नाक** की सहायता से मुख से उच्चारित होने वाले ऐसे वर्ण **अनुनासिक** कहलाते हैं। जो **अनुनासिक** नहीं हैं, वे **अननुनासिक** या **निरनुनासिक** कहलाते हैं। हम बतला चुके हैं कि **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक** ये **अचों** में रहने वाले धर्म हैं। अपवाद के रूप में **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ये व्यंजन होते हुए भी इन्हें **अनुनासिक** कहा जाता है। इसी प्रकार **यँ, वँ, लँ** भी

अनुनासिक माने जाते हैं और **य्, व्, ल्** के रूप में **निरनुनासिक** भी हैं। जहाँ पर अनुनासिक का व्यवहार होगा वहाँ पर अनुनासिक अच् और **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ये समझे जाते हैं। इस सम्बन्ध में आगे **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** आदि सूत्रों का प्रसंग देखना चाहिए।

तदित्थम्- अ-इ-उ-ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। इस प्रकार से अ, इ, उ और ऋ इन चार वर्णों के अठारह-अठारह भेद हुए।

लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। लृ के दीर्घ न होने से बारह भेद होते हैं।

एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्। एचों का ह्रस्व नहीं होता है, इसलिए बारह ही भेद होते हैं।

पहले **अच्** अर्थात् **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** ये वर्ण **ह्रस्व, दीर्घ** और **प्लुत** के कारण प्रत्येक तीन-तीन भेद वाले हो गये किन्तु **लृ** की दीर्घ मात्रा नहीं है, इसलिए **लृ** के **ह्रस्व** और **प्लुत** दो ही भेद हुए। इसी प्रकार **एच्** अर्थात **ए, ओ, ऐ, औ** का ह्रस्व नहीं होता, अतः **एच्** के **दीर्घ** और **प्लुत** ही दो-दो भेद हो गये। शेष **अ, इ, उ, ऋ** ये चारों वर्ण ह्रस्व भी हैं, दीर्घ भी होते हैं और प्लुत भी होते हैं, इसलिए ये तीन-तीन भेद वाले माने जाते हैं।

इस प्रकार से दो एवं तीन भेद वाले प्रत्येक अच् वर्ण **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** के भेद से पुनः तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक **ह्रस्व अच्** वर्ण **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** के भेद से तीन प्रकार का, **दीर्घ अच्** वर्ण भी **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** के भेद से तीन प्रकार का और **प्लुत अच्** वर्ण भी **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** के भेद से तीन प्रकार के हो जाने से कुछ **अच्** वर्ण **छः प्रकार** के और कुछ **नौ प्रकार** के हो गये। **छः प्रकार** के इसलिये कि जिन वर्णों के **ह्रस्व** या **दीर्घ** नहीं थे वे दो-दो प्रकार के थे, सो अब उदात्तादि स्वरों के कारण **छः छः** प्रकार के हो गए। जिन अच् वर्णों के **ह्रस्व, दीर्घ** और **प्लुत** तीनों हैं वे **उदात्तादि** स्वरों के कारण **नौ नौ** प्रकार के हो गए। इस प्रकार से अभी तक अचों के **छः** या **नौ** प्रकार के भेद सिद्ध हुए।

ये ही वर्ण पुनः **अनुनासिक** और **अननुनासिक** के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप ये **बारह** और **अठारह** प्रकार के भेद वाले हो जाते हैं। इसके पहले जो छः प्रकार के थे, वे **बारह** प्रकार के एवं जो **नौ** प्रकार के थे, वे **अठारह** प्रकार के हो जाते हैं।

अनुनासिक पक्ष के **छः** और **नौ** भेद तथा **अननुनासिक** पक्ष के भी **छः** और **नौ** भेद होते हैं। इस प्रकार से **अ, इ, उ, ऋ** के **अठारह-अठारह** भेद तथा **लृ, ए, ऐ, ओ, औ** के **बारह-बारह** भेद सिद्ध हुए। **य्-व्-ल्** ये वर्ण **अनुनासिक** और **अननुनासिक** के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

इस विषय को तालिका के माध्यम से समझते हैं-

अ,इ,उ,ऋ,लृ	आ,ई,ऊ,ॠ,ए,ओ,ऐ,औ	प्लुत- अ,इ,उ,ॠ,ए,ओ,ऐ,औ
१.ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७. दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३.प्लुत उदात्त अनुनासिक
२.ह्रस्व उदात्त अननुनासिक	८. दीर्घ उदात्त अननुनासिक	१४.प्लुत उदात्त अननुनासिक
३.ह्रस्व अनुदात्त अनुनासिक	९. दीर्घ अनुदात्त अनुनासिक	१५.प्लुत अनुदात्त अनुनासिक
४.ह्रस्व अनुदात्त अननुनासिक	१०.दीर्घअनुदात्त अननुनासिक	१६.प्लुत अनुदात्त अननुनासिक
५.ह्रस्व स्वरित अनुनासिक	११.दीर्घ स्वरित अनुनासिक	१७.प्लुत स्वरित अनुनासिक
६.ह्रस्व स्वरित अननुनासिक	१२.दीर्घ स्वरित अननुनासिक	१८.प्लुत स्वरित अननुनासिक

सवर्णसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

(वार्तिकम्) **ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।**

....

अब अगले सूत्र से वर्णों की आपस में सवर्णसंज्ञा की जायेगी। सवर्णसंज्ञा के लिए स्थान और प्रयत्नों का जानना आवश्यक है। मुख के जिस भाग-विशेष के विशेष जुड़ाव या प्रक्रिया से वर्णों का उच्चारण होता है, उस वर्ण का वही **स्थान** होता है। जैसे **प्** का उच्चारण दोनों होंठो के आपस में जुड़ने पर होता है। अतः **प्** का स्थान ओष्ठ है। **अ** का उच्चारण सीधे कण्ठ से होता है। अतः **अ** का स्थान कण्ठ है।

वर्णों के उच्चारण में शरीर के नाभि भाग से प्रारम्भ होकर हृदय और शीर्ष भाग होते हुए मुख से बाहर तक एक प्रकार का **यत्न** होता है, और जो वर्ण उच्चारण होते समय जिस स्थान या क्रिया विशेष को प्रभावित करता है, वही उसका **प्रयत्न** होता है।

व्याकरण में **कवर्ग** आदि का प्रयोग बहुत जगहों पर होगा। कु से **कवर्ग**, चु से **चवर्ग**, टु से **टवर्ग**, तु से **तवर्ग** और पु से **पवर्ग** समझना चाहिये। वर्गों में भी **कवर्ग** का तात्पर्य **क, ख, ग, घ, ङ** एवं **चवर्ग** का तात्पर्य **च, छ, ज, झ, ञ** और आगे भी इसी प्रकार **वर्ग** समझना चाहिए।

विसर्ग के तीन भेद हैं। जो सर्वत्र प्रचलित दो विन्दु वाला है उसे **विसर्जनीय** अथवा सामान्य **विसर्ग** कहते हैं, किन्तु क और ख के पहले आने वाला विसर्ग कभी **जिह्वामूलीय** तो कभी **विसर्जनीय** अर्थात् **सामान्य विसर्ग** होता है। इसी प्रकार प और फ के पहले आने वाला विसर्ग कभी **उपध्मानीय** तो कभी **विसर्जनीय** अर्थात् **सामान्य विसर्ग** रहता है।

१०- तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। तुल्यं च तुल्यश्च तुल्यौ, आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ ययोः तत्तुल्यास्यप्रयत्नं (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। तुल्यास्यप्रयत्नं प्रथमान्तं, सवर्णं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दो जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ तुल्य हों, वे वर्ण आपस में सवर्णसंज्ञक होते हैं।

यह सूत्र दो या दो से अधिक वर्णों की आपस में सवर्णसंज्ञा करता है। सवर्ण का अर्थ है- **समान वर्ण, समान जाति, समान स्थान वाले वर्ण, समान प्रयत्न वाले वर्ण, वर्णों की आपस में स्थान और प्रयत्न से तुल्यता।** सवर्णसंज्ञा वाले वर्णों को **सवर्णी** कहते हैं और **सवर्णसंज्ञा** को **सावर्ण्य** भी कहते हैं। सवर्णसंज्ञा के लिये स्थान और प्रयत्न की समानता चाहिये। सवर्णसंज्ञा में **आभ्यन्तर-प्रयत्न** ही लिया जाता है। **बाह्य-प्रयत्न** का उपयोग किसी वर्ण के स्थान पर कोई आदेश करने में किया जायेगा। जिन दो वर्णों का आपस में स्थान भी एक हो और प्रयत्न भी एक हो तो वे वर्ण आपस में **सवर्णी** हैं अर्थात् सवर्णसंज्ञा वाले हैं। सवर्णसंज्ञा वाले वर्णों का एक से दूसरे, तीसरे सवर्णसंज्ञा वाले वर्ण का ग्रहण करते हैं। जैसे- **अ** और **आ** में **अकार** का स्थान भी **कण्ठ** है और **आकार** का स्थान

(अथ स्थानानि)

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः इचुयशानां तालु।
ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः।
उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च।
एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।
वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।
नासिकाऽनुस्वारस्य।

....

भी **कण्ठ** है तथा दोनों का **विवृत प्रयत्न** है। **अ** और **आ** का स्थान और प्रयत्न एक होने के कारण इनकी आपस में **सवर्णसंज्ञा** हो जाती है। ये आपस में **सवर्णी** कहलाए। अब जहाँ **अ** का ग्रहण होगा वहाँ **आ** का भी ग्रहण हो जायेगा। इसी प्रकार **क्** और **घ्** में दोनों का **कण्ठ-स्थान** है और दोनों का **स्पृष्ट-प्रयत्न** है, इसलिए **क्** और **घ्** की आपस में **सवर्णसंज्ञा** हुई। केवल **क्** और **घ्** की ही नहीं अपितु **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ये सभी वर्ण समान स्थान और समान प्रयत्न वाले हैं, इसलिए इनकी आपस में **सवर्णसंज्ञा** हो जाती है। इस संज्ञा के बाद **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के बल से **अण्** और **कु, चु, टु, तु, पु** के ग्रहण से दूसरे का भी ग्रहण हो जायेगा किन्तु वहाँ पर ही ग्रहण होगा जहाँ पर, जिस सूत्र और वार्तिक में **कु, चु, टु, तु, पु** ऐसा उच्चारण किया गया हो, अन्यत्र **क्** से **ख्, ग्** आदि का ग्रहण नहीं होगा।

क् और **च्** की आपस में सवर्ण संज्ञा नहीं होगी क्योंकि **क्** और **च्** का एक ही **स्पृष्ट प्रयत्न** होते हुए भी दोनों का **स्थान** भिन्न है। **ह्** और **न्** की **सवर्णसंज्ञा** नहीं होगी क्योंकि इन दोनों का आपस में स्थान भी भिन्न है और प्रयत्न भी भिन्न है। इस प्रकार से सवर्णसंज्ञा को समझना चाहिए और अच्छी तरह से याद भी होना चाहिए। याद रहे कि **सवर्णसंज्ञा** को जानने के लिये वर्णों का स्थान और प्रयत्न का जानना आवश्यक है। **स्थान** और **प्रयत्न** आगे बताये जा रहे हैं।

ऋलुवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। यह वार्तिक है। **ऋ और लृ वर्ण की आपस में सवर्णसंज्ञा होती है, ऐसा कहना चाहिए।**

ऋ और **लृ** इन दो वर्णों में स्थान का भेद है, अतः सूत्र से **सवर्णसंज्ञा** की प्राप्ति नहीं थी जिसके लिए **कात्यायन जी** ने वार्तिक बनाकर सवर्णसंज्ञा कर दी है। इससे **तवल्कारः** आदि की सिद्धि होगी, जिसका विषय आगे स्पष्ट होगा। इन दो वर्णों की आपस में सवर्णसंज्ञा होने से अठारह प्रकार का **ऋ** और बारह प्रकार का **लृ** ये मिलकर तीस प्रकार के हो जाते हैं। एवं एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो जाता है। **सवर्णसंज्ञा** का मुख्य प्रयोजन **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के द्वारा **एक से दूसरे वर्ण का ग्रहण करना।**

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। अठारह प्रकार के सभी अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का कण्ठ स्थान है। जिस वर्ण की मुख के जिस भाग से उत्पत्ति होती है, वह स्थान वर्णों का **स्थान** है। **अकार, कवर्ग अर्थात् क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** और **विसर्जनीय विसर्ग** इनका उच्चारण सीधे **कण्ठ** से ही होता है, इसलिये इन वर्णों का **कण्ठस्थान** है।

इचुयशानां तालु। अठारह प्रकार के सभी इकार, चवर्ग, यकार और शकार

का तालु स्थान है। अब इकार, **चवर्ग अर्थात च्, छ्, ज्, झ्, ञ्,** यकार और **शकार** इनके उच्चारण में तालु का विशेष प्रयोग होता है। अतः इनका **तालुस्थान** है। ऊपर वाले दातों के पीछे ऊपरी जो **मांसल** भाग है, जो कुछ **खुरदरा** सा लगता है, उसे **तालु** कहते हैं।

ऋटुरषाणां मूर्धा। अठारह प्रकार के सभी ऋकार, टवर्ग, रकार और षकार का मूर्धा स्थान है। ऋकार, टवर्ग अर्थात् ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, रकार और षकार का उच्चारण **मूर्धा**- जीभ को पीछे ले जाकर शिर के मध्यभाग के ठीक नीचे मुखभाग में जो कोमल भाग है, उससे होता है, अतः इनका **मूर्धास्थान** है। संस्कृत में **शिर** को **मूर्धा** भी कहते हैं।

लृतुलसानां दन्ताः। बारह प्रकार के सभी लृकार, तवर्ग, लकार और सकार का दन्त स्थान है। लृकार, तवर्ग अर्थात् त्, थ्, द्, ध्, न्, लकार और सकार का उच्चारण जीभ के ऊपरी दातों से टकराने से होता है, अतः इनका **दन्तस्थान** है।

उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग, उपध्मानीय-विसर्ग का ओष्ठ स्थान है। उकार, पवर्ग अर्थात् प्, फ्, ब्, भ्, म् और उपध्मानीय विसर्ग का उच्चारण दोनों होठों के टकराने से होता है, अतः इनका **ओष्ठस्थान** है:

ञमङणनानां नासिका च। ञ्, म्, ङ्, ण्, न् का नासिकास्थान भी होता है। तात्पर्य यह है कि इसके पहले **ञ्** का तालुस्थान, **म्** का ओष्ठस्थान, **ङ्** का कण्ठस्थान, **ण्** का मूर्धास्थान और **न्** का दन्तस्थान है, यह बताया जा चुका है। अब इनका **नासिकास्थान** भी होता है, ऐसा कहा जा रहा है। जैसे **ञ्** का **तालुस्थान** और **नासिकास्थान** है। इनका उच्चारण नाक की सहायता से होता है इसलिए **नासिकास्थान** भी बताया गया।

एदैतोः कण्ठतालु। ए और ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु से होता है, अतः इनका **कण्ठतालु** स्थान है।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। ओ, औ का उच्चारण **कण्ठ** और **ओष्ठ** से होता है। अतः इनका **कण्ठ-ओष्ठस्थान** है।

वकारस्य दन्तोष्ठम्। वकार का दन्त-ओष्ठ स्थान है। वकार का उच्चारण दाँत और होठों से होता है। अतः वकार का **दन्त+ओष्ठ=दन्तोष्ठस्थान** है।

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। जिह्वामूलीय विसर्ग का **जिह्वामूलस्थान** है, क्योंकि इसका उच्चारण सीधे जीभ के मूलभाग से होता है।

नासिकाऽनुस्वारस्य। अनुस्वार का उच्चारण **नासिका** के सहयोग से होता है, अतः अनुस्वार का **नासिकास्थान** है।

स्थान और **प्रयत्न** को कौमुदी में या अष्टाध्यायी में सूत्रों के द्वारा नहीं बताया गया किन्तु **पाणिनीयशिक्षा** आदि ग्रन्थों से लेकर यहाँ प्रयोग किया गया है।

जैसे **वर्णसमाम्नाय** अर्थात् चतुर्दश-सूत्रों में **अ** पढ़ा गया किन्तु **आ** नहीं पढ़ा गया, **इ** का उच्चारण है किन्तु **ई** का उच्चारण नहीं है फिर भी **सवर्णसंज्ञा** के बाद **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के बल से **अ** से **आ** का ग्रहण, **इ** से ई **का** ग्रहण, **उ** से ऊ का ग्रहण जैसे होता है, उसी प्रकार से **सवर्ण-संज्ञा** के बाद **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के बल से **ए** से **ऐ** का ग्रहण और **ओ** से **औ** का ग्रहण होना चाहिए तो **ऐऔच्** सूत्र बनाने की क्या जरूरत थी? इस विषय पर बताते हैं कि ये सूत्र बनाये नहीं गये हैं अपितु शंकर जी के डमरु से निकले हैं, यह सूत्र ज्यादा निकल कर के इस बात को प्रमाणित करता है कि **ए** और **ऐ** की तथा **ओ** और **औ** की आपस में **सवर्ण संज्ञा** नहीं होती है।

(अथ प्रयत्नाः)

यत्नो द्विधा- आभ्यन्तरो बाह्यश्च।
आद्यः पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्।
तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्।
ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्।
ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।
बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा- विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।
खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च।
हशः संवारा नादा घोषाश्च।
वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः।

....

सवर्णसंज्ञा के लिए **स्थान** और **प्रयत्न** का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इस तरह से याद हो कि पूछते ही तत्काल बता सकें। जैसे किसी ने पूछा कि **भ** का क्या स्थान है? तो एक क्षण भी लगाए बिना तत्काल उत्तर दे सकें कि **भ** का **ओष्ठस्थान** होता है। प्रमाण भी बता सकें कि **उपूपध्मानीयानामोष्ठौ**। वर्णों के **स्थान** के सम्बन्ध में बारम्बार अभ्यास करें। अपने साथियों के साथ बैठ कर के एक दूसरे से पूछें और उत्तर दें। इसी तरह का अभ्यास **प्रयत्न** के सम्बन्ध में भी करें।

स्थान जानने के बाद **प्रयत्न** की जिज्ञासा होती है, क्योंकि **सवर्ण-संज्ञा** में **प्रयत्न** की भी आवश्यकता होती है। अतः आगे **प्रयत्न** बताये जा रहे हैं।

यत्नो द्विधा- आभ्यन्तरो बाह्यश्च। प्रयत्न दो प्रकार के हैं- एक **आभ्यन्तर-प्रयत्न** और दूसरा **बाह्य-प्रयत्न**।

आद्यः पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। पहला आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत के भेद से पाँच प्रकार का है।

तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। उनमें स्पर्शसंज्ञक वर्णों का **स्पृष्ट-प्रयत्न** है। (**क** से **म** तक के वर्ण **स्पृष्टसंज्ञक** हैं।)

ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। अन्तःस्थसंज्ञक वर्णों का **ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न** है। (यण् प्रत्याहारस्थ य्,, व्, र्, ल् ये वर्ण **अन्तःस्थसंज्ञक** होते हैं।)

ईषद्विवृतमूष्मणाम्। ऊष्मसंज्ञक वर्णों का **ईषद्विवृत-प्रयत्न** है। (शल् अर्थात् श्, ष्, स्, ह् ये **ऊष्मसंज्ञक** हैं।)

विवृतं स्वराणाम्। स्वरसंज्ञक वर्णों का **विवृत-प्रयत्न** है। (अच् ही **स्वरसंज्ञक** हैं।)

ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। ह्रस्व अवर्ण का प्रयोग अवस्था अर्थात् उच्चारणावस्था में **संवृत-प्रयत्न** और साधनिका अवस्था अर्थात् **प्रयोगसिद्धि** की अवस्था में **विवृत-प्रयत्न** ही रहता है।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा- विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष,

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।
कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः।
शल ऊष्माणः। अचः स्वराः।
⌅ क ⌅ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः।
⌅ प ⌅ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः।
अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

....

अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद **बाह्यप्रयत्न** ग्यारह प्रकार का होता है।

अच् प्रत्याहारस्थ वर्णों का **उदात्त**, **अनुदात्त** और **स्वरित** प्रयत्न होते हैं, क्योंकि पहले ही इनकी ये संज्ञाएँ की जा चुकी है।

खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। खर् प्रत्याहारस्थ वर्णों का विवार, श्वास और अघोष प्रयत्न है। खर् प्रत्याहार अर्थात् **ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्** इन सबका **विवार**, **श्वास**, **अघोष** ये तीनों प्रयत्न हैं।

हशः संवारा नादा घोषाश्च। हश् प्रत्याहार के वर्णों का संवार, नाद और घोष प्रयत्न है। हश् प्रत्याहार में **ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये वर्ण आते हैं, इन सबों का **संवार**, **नाद**, **घोष** ये तीनों प्रयत्न हैं।

वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम अक्षर और यण् का अल्पप्राण प्रयत्न होता है। वर्ग के प्रथम अक्षर हैं- **क्, च्, ट्, त्, प**, तृतीय हैं- **ग्, ज्, ड्, द्, ब्**, पंचम अक्षर हैं- **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** और यण् हैं- **य्, व्, र्** और **ल्**। इनका अल्पप्राण प्रयत्न है।

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ अक्षर और शल् का महाप्राण प्रयत्न होता है। वर्ग के द्वितीय अक्षर हैं- **ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्** और चतुर्थ हैं- **घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्** तथा शल् हैं- **श्, ष्, स्, ह्**। इनका महाप्राण प्रयत्न है।

अल्पप्राण और **महाप्राण** प्रयत्न, ये दोनों पृथक् प्रयत्न होते हुए भी किसी भी वर्ण का केवल अल्पप्राण अथवा केवल महाप्राण प्रयत्न नहीं होता अपितु संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण या संवार, नाद, घोष, महाप्राण तथा विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण या विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न, इस प्रकार से प्रत्येक वर्ण के चार-चार प्रयत्न होते हैं।

हम पहले ही बता चुके हैं कि विसर्ग के तीन भेद हैं- **विसर्जनीय** अर्थात् सामान्य विसर्ग, **जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय**। विसर्ग को **विसर्जनीय** के रूप में व्यवहार होता है।

⌅ क ⌅ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ⌅ क ⌅ ख ऐसे में **क** ओर **ख** से पहले आने वाला आधा विसर्ग जैसा जो होता है, वह **जिह्वामूलीय विसर्ग** माना जाता है।

⌅ प ⌅ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। ⌅ प ⌅ फ ऐसे में **प** और **फ** से पहले आने वाला आधा विसर्ग जैसा जो होता है, वह उपध्मानीय विसर्ग माना जाता है।

'अ'आदिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

११. अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९॥

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्ययः।
अविधीयमानोऽणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्।
अत्रैवाण् परेण णकारेण।
कु-चु-टु-तु-पु एते उदितः।
तदेवम्- अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ।
ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्।
अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा; तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञाः।

....

अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। अं में जैसे अकार के ऊपर का एक बिन्दु **अनुस्वार** है, वैसे ही सभी अच् वर्णों के ऊपर का एक बिन्दु **अनुस्वार** कहलाता है और **अः** में जैसे अकार के बाद का दो बिन्दु **विसर्ग** है, वैसे ही सभी अच्(स्वर) वर्णों के बाद का दो बिन्दु **विसर्ग** कहलाता है।

मकार और **नकार** के स्थान पर आदेश होकर **अनुस्वार** बनता है और **रेफ** के स्थान पर आदेश होकर **विसर्ग** बनता है, इस विषय को हम आगे स्पष्ट करेंगे।

हम छात्रों को बारम्बार यह समझा रहे हैं कि जब तक **संज्ञाप्रकरण** पूर्णतया कण्ठस्थ नहीं होगा और जब तक एक एक अक्षर को नहीं समझेंगे तथा जब तक **प्रत्याहार, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक, स्थान, प्रयत्न, सवर्णसंज्ञा, सवर्णग्रहण, संहितासंज्ञा, पदसंज्ञा, इत्संज्ञा** आदि नहीं समझेंगे तब तक आगे पढ़ना व्यर्थ है, क्योंकि इनके विना आगे कुछ समझ में ही नहीं आयेगा।

११- अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। अण् प्रथमान्तम्, उदित् प्रथमान्तं, सवर्णस्य षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदम्, अप्रत्ययः प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **प्रत्यय** शब्द यौगिक अर्थ में लिया जाता है, न कि व्याकरणशास्त्र में संज्ञा से बोध्य सुप्-तिङ् आदि प्रत्यय। इसीलिए जिसका विधान किया जाता है, उसे प्रत्यय कहते हैं, अर्थात् जो **विधेय** हो उसे **प्रत्यय** कहते है और जो विधेय नहीं है, वह **अप्रत्यय** है।

अप्रत्यय अण् और उदित् ये सवर्ण के बोधक अर्थात् ग्राहक होते हैं।

कु, चु, टु, तु, पु ये ही उदित् हैं, क्योंकि इन पाँचों की ही प्राचीन आचार्यों ने **उदित्** संज्ञा की है।

जिस सूत्र में अण् विधीयमान अर्थात् विधेय नहीं है, वहाँ एक अण् प्रत्याहार के वर्ण से उसके अन्य **सवर्णी** वर्णों का ग्रहण किया जाता है। जैसे **इको यणचि** में में **इक्** प्रत्याहार से केवल **इ, उ, ऋ** और **लृ** ही नहीं लिए जाते अपितु **ई, ऊ, ॠ** आदि **दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक** आदि सभी अठारह भेदों का ग्रहण किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन वर्णों की आपस में **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** से **सवर्णसंज्ञा** हुई है। वे यदि **अण्** प्रत्याहार में आते हैं तो वे अपने सवर्णियों के **ग्राहक** अर्थात् **बोधक** होते हैं। एक के ग्रहण से दूसरे का ग्रहण हो जाता है। यह नियम अण्

संहितासंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१२. परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९॥

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

....

के लिए है। शेष वर्णों में उदित होना जरूरी है, तभी सवर्ण का ग्रहण किया जायेगा। जैसे- **कुहोश्चुः, चोः कु** आदि सूत्रों में उकारयुक्त **कु, चु** आदि पढ़े गये हैं। ऐसे स्थलों पर सवर्ण का ग्रहण होगा, अन्यत्र **क्, च्** से अपने सवर्णियों का बोध नहीं होगा।

अत्रैवाण् परेण णकारेण। इस सूत्र में अण् प्रत्याहार को पर णकार अर्थात् **लण्** के **णकार** को लेकर माना गया है, अन्यत्र सर्वत्र **अइउण्** वाले **णकार** को लेकर ही **अण्** प्रत्याहार माना जाता है। तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में कथित **अण्** से **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्** का बोध होता है और अन्यत्र **अण्** से **अ, इ, उ** का मात्र बोध होता है।

तदेवम्- अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। इस प्रकार से **अ** से **अठारह** प्रकार के **अकार** का बोध अथवा ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार **इकार** और **उकार** से भी अठारह-अठारह प्रकार के **इकार** और **उकार** का ही बोध अर्थात् ग्रहण किया जाता है।

ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। ऋकार से तीस प्रकार के **ऋकार** (अठारह प्रकार के ऋकार तथा बारह प्रकार के लृकार) का बोध अर्थात् ग्रहण किया जाता है। इसी तरह **लृकार** से भी तीस ही प्रकार का बोध होता है, क्योंकि **ऋकार** और **लृकार** की **सवर्णसंज्ञा** होती है। अतः ये दोनों वर्ण आपस में सवर्णी हैं। जहाँ ये विधीयमान नहीं हैं, वहाँ पर ऋकार से ऋकार के अठारह भेद और लृकार के बारह भेद इसी प्रकार लृकार से भी ऋकार और लृकार के सभी भेद वाले ग्रहण किये जाते हैं। इसका फल आगे स्पष्ट किया जायेगा।

एचो द्वादशानाम्। एच् के प्रत्येक **ए, ओ, ऐ, औ** वर्णों से बारह-बारह प्रकार के भेदों सहित **एचों** का ग्रहण किया जाता है।

अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा; तेनानुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा। य्, व्, ल् ये वर्ण यँ, वँ, लँ के रूप में अनुनासिक और य्, व्, ल् के रूप में अननुनासिक(निरनुनासिक) हैं। अतः **य्, व् ल्** से **अनुनासिक** और **अननुनासिक** दोनों प्रकार के **यकार, वकार, लकार** का बोध होता है।

इस तरह से पहले **अइउण्** आदि सूत्रों का पठन, उसके बाद अन्त्य वर्ण की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और उसका **तस्य लोपः** से लोप करके **आदिरन्त्येन सहेता** से प्रत्याहार बनाने के बाद उन **अचों** की **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतसंज्ञा**, उसके बाद **उदात्त-अनुदात्त-स्वरितसंज्ञा**, उसके बाद **अनुनासिक** और **अननुनासिकसंज्ञा** करके वर्णों के **स्थान** एवं **प्रयत्न** को जानने के बाद जिनका आपस में **स्थान** और **प्रयत्न** मिलते हैं, उनकी **सवर्णसंज्ञा** करके उन **सवर्णियों** का **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** से ग्रहण किये जाने के **वर्णाश्रित-प्रक्रिया** को आप अच्छी तरह से समझ गये होंगे। अब इन्हीं **प्रत्याहार, स्थान, प्रयत्न, सवर्णसंज्ञा** और **सवर्णियों** का ग्रहण आदि करके सूत्रों से अनेक कार्य किये जाते हैं। अच्सन्धि से लेकर स्त्रीप्रत्यय तक **प्रत्याहार, स्थान, प्रयत्न** एवं **सवर्णसंज्ञा** की नितान्त आवश्यकता होती है।

संयोगसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७॥

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

....

१२- **परः सन्निकर्षः संहिता।** परः प्रथमान्तं, सन्निकर्षः प्रथमान्तं, संहिता प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

वर्णों की अत्यन्त सन्निधि संहितासंज्ञक होती है अर्थात् वर्णों की अत्यन्त समीपता को संहिता कहते हैं।

आगे जाकर के हमें दो शब्दों के वीच **सन्धि** करनी है और सन्धि करने वाले सारे सूत्र **संहिता के विषय में** ही कार्य करते हैं। **संहिता** भी एक **संज्ञा** ही है। जिनकी आपस में **संहितासंज्ञा** नहीं हुई, उनकी **सन्धि** नहीं हो सकती। इस लिए यहाँ **सन्धिप्रकरण** में प्रवेश करने के पहले इस सूत्र के द्वारा **संहितासंज्ञा** की जाती है।

संहितासंज्ञा वहीं होगी जहाँ सन्धि किये जाने वाले वर्ण आपस में अत्यन्त नजदीक में बैठे हों। जैसे **राम+अवतार** में **राम** के **म्** के बाद जो **अ** है वह **अवतार** के आदि अ के अत्यन्त समीप में है। अतः दोनों **अकारों** की आपस में **संहितासंज्ञा** हो गई और **सन्धिप्रकरण** के सूत्र **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घसन्धि होकर **रामावतार** बन जाता है। यदि **राम** के बाद बीच में कुछ और वर्ण आ जायें और उसके बाद **अवतार** बोला जाय तो **राम+..........अवतार** में सन्धि नहीं हो सकती, क्योंकि **राम** और **अवतार** के बीच (अन्य वर्ण) अधिक काल(समय आदि) का व्यवधान है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिन दो वर्णों की **सन्धि** होनी है, उनके बीच में किसी वर्ण को नहीं होना चाहिये और समय भी तत्काल ही होना चाहिये। किसी ने **राम** ऐसा अभी बोला और एक घण्टे के बाद **अवतार** बोला तो भी सन्धि नहीं होगी क्योंकि वहाँ भी वर्णों की अत्यन्त सन्निधि अर्थात् समीपता नहीं है। तात्पर्य यह है कि लिखने, पढ़ने, बोलने, सुनने में वर्णों की अत्यन्त समीपता चाहिए सन्धि के लिए।

१३- **हलोऽनन्तराः संयोगः।** हलः प्रथमान्तम्, अनन्तराः प्रथमान्तं, संयोगः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

अचों से अव्यवहित हल् संयोगसंज्ञक होते हैं।

संयोग माने **साथ होना।** संसार में विजातीयों के साथ होने को भी **संयोग** कहा जाता है किन्तु व्याकरण में सजातीय **हल्-हल्** के साथ होने पर ही संयोग माना गया है। हल्त्वेन सजातीय ही ग्राह्य है। **हलः** यह बहुवचन सामान्यतया गृहीत है अर्थात् द्विवचन को सामान्यतया बहुवचन से ही ग्रहण किया गया है जिससे दो और दो से अधिक वर्णों के बीच में कोई भी अच् न हो तो उन सभी हलों के समुदाय अर्थात् समूह की **संयोगसंज्ञा** होती है। जैसे **देवदत्त, शर्मा, सिद्ध, पत्नी** आदि। यहाँ पर **दत्त** में दो **तकार** हैं और दोनों के बीच में कोई भी अच् अर्थात् स्वर वर्ण नहीं है। इसीलिये **त्-त्** इस हल् समुदाय की **संयोगसंज्ञा** हो जाती है। इसी प्रकार **पत्नी** में **त्** और **न्** के बीच में कोई भी **अच्** नहीं है, अतः **त्-न्** इस हल्समुदाय की **संयोगसंज्ञा** हो जाती है।

पदसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

१४. सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४॥

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

इति सञ्ज्ञाप्रकरणम्॥१॥

....

१४- सुप्तिङन्तं पदम्। सुप् च तिङ् च तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः सुप्तिङौ, तौ अन्तौ यस्य (शब्द स्वरूपस्य) तत् सुप्तिङन्तम्(बहुव्रीहिः)। सुप्तिङन्तं प्रथमान्तं, पदं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

सुबन्त और तिङन्त पदसंज्ञक होते हैं।

सुप् प्रत्यय आगे **अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरण** में तथा **तिङ्** प्रत्यय भ्वादिप्रकरण में बताये जायेंगे। **सु, औ, जस्** आदि **सु** से **सुप्** तक के प्रत्यय जिन शब्दों में लगे हुये हैं, उन शब्दों को **सुबन्त** और **तिप्, तस्, झि** आदि से **वहि, महिङ्** तक के प्रत्यय जिन शब्दों के अन्त में लगे हों उन्हें **तिङन्त** कहते हैं। ऐसे **सुबन्त** और **तिङन्त** शब्दों की **पदसंज्ञा** इस सूत्र से की जाती है। **पदसंज्ञा** करने के बाद ही वह **पद** कहलाता है। **पद** होने के बाद ही उसका व्यवहार लोक में होता है। **अपदं न प्रयुञ्जीत** अर्थात् जो पद नहीं है, वह लोक में व्यवहार के योग्य नहीं होता।

एक बात और जानना जरूरी है कि **क्ष्, त्र्, ज्ञ्** ये अक्षर स्वतन्त्र नहीं हैं अपितु दो-दो अक्षरों के संयोग से बने हैं। जैसे- **क्+ष्=क्ष्, त्+र्=त्र्, ज्+ञ्=ज्ञ्।** इस प्रकार से **क्ष्** का कण्ठ और मूर्धास्थान, **त्र्** का दन्त और मूर्धा स्थान तथा **ज्ञ्** का तालु और नासिका स्थान है।

इस तरह **लघुसिद्धान्तकौमुदी** के **सञ्ज्ञाप्रकरण** में चौदह ही सूत्र बताये गये हैं। **अष्टाध्यायी** के प्रथम अध्याय में संज्ञाविधायक अनेक सूत्र हैं। उनमें केवल तेरह संज्ञासूत्र और एक **तस्य लोपः** विधिसूत्र को मिलाकर के इन चौदह सूत्रों को लेकर बनाये गये प्रकरण को **संज्ञाप्रकरण** कहना कितना उचित है? क्या इसके बाद संज्ञाविधायक सूत्र नहीं आते? इस पर यह कहा जाता है कि **सन्धि** आदि के लिए सामान्यतः उपयोगी सूत्रों को ही इस प्रकरण में लिया गया है। तत्तत् कार्यविशेष के लिए यथास्थान उन-उन संज्ञाओं का कथन वहीं पर किया जाता है। जैसे अच्सन्धि में **टिसंज्ञा**, हल्सन्धि में **आम्रेडितसंज्ञा**, षड्लिङ्गों में **प्रातिपदिकसंज्ञा** आदि आदि। यह सन्ध्युपयोगी संज्ञाओं का प्रकरण है।

व्याकरण के सूत्रों की ६ श्रेणियाँ है अर्थात् ६ प्रकार के सूत्र होते हैं।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

१- संज्ञासूत्र, २- परिभाषासूत्र, ३- विधिसूत्र, ४- नियमसूत्र, ५- अतिदेशसूत्र और ६- अधिकारसूत्र।

१- संज्ञासूत्र। जो सूत्र संज्ञाओं का विधान करते हैं, ऐसे सूत्र **संज्ञासूत्र** या **संज्ञाविधायक** सूत्र कहलाते हैं। जैसे- **हलन्त्यम्, अदर्शनं लोपः, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** आदि।

२- परिभाषासूत्र। जो अनियम होने पर नियम करते हैं, ऐसे सूत्र **परिभाषासूत्र** कहलाते हैं। जैसे- **स्थानेऽन्तरतमः, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्, अनेकाल्शित् सर्वस्य** आदि।

३- विधिसूत्र। जो सूत्र यण्, गुण, वृद्धि, दीर्घ, प्रत्यय, आदेश आदि का विधान करते हैं, ऐसे

सूत्र **विधिसूत्र** कहलाते हैं। जैसे- **इको यणचि, एचोऽयवायावः, आद्गुणः, वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः** आदि।

४- नियमसूत्र। किसी सूत्र के द्वारा कार्य सिद्ध होते हुए उसी कार्य के लिए यदि किसी अन्य सूत्र को पढ़ा गया हो तो वह सूत्र **नियमसूत्र** कहलाता है। **सिद्धे सत्यारम्भमाणो विधिर्नियमाय भवति** अर्थात् सिद्ध होने पर भी पुनः विधान करने से एक विशेष नियम का संकेत उससे प्राप्त होता है। जैसे- **रात्सस्य, पतिः समास एव, एच इग्घ्रस्वादेशे।**

५- अतिदेशसूत्र। जो वैसा नहीं है, उसे वैसा मानना अतिदेश है। जैसे कि शिष्य जो गुरु नहीं है, अब उसे गुरु के तुल्य माना जाय। सूत्र भी बहुत स्थानों पर ऐसा कार्य करते हैं। ऐसे सूत्रों को **अतिदेशसूत्र** कहा गया है। जैसे- **अन्तादिवच्च, स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, तृज्वत्क्रोष्टुः** इत्यादि।

६- अधिकारसूत्र। कुछ सूत्र ऐसे होते हैं जो अपने क्षेत्र में कोई कार्य नहीं करते किन्तु अन्य सूत्रों के क्षेत्र में अपना अधिकार रखते हैं, उसके सहायक बनते हैं। ऐसे सूत्र **अधिकारसूत्र** हैं। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, धातोः** आदि।

सूत्रों में अनुवृत्ति की भी प्रक्रिया है जो **हलन्त्यम्** सूत्र की व्याख्या में बता चुके हैं। अनुवृत्ति और अधिकार में कुछ साम्य है, अन्तर यह है कि **अधिकारसूत्र** अपने क्षेत्र में कोई काम नहीं करता किन्तु उत्तरसूत्र में उसकी सहायता के लिए उपस्थित होता है और **अनुवृत्ति** में वह शब्द अपने क्षेत्र में काम करते हुए उत्तरसूत्र के सहायतार्थ उपस्थित होता है।

अभ्यासः-

अब आपका **संज्ञाप्रकरण** पूर्ण हुआ। संज्ञाप्रकरण **पूर्ण** रूपेण **शब्दतः और अर्थतः** कण्ठस्थ हो जाय तभी आगे के प्रकरण पढ़ने के अधिकारी हो सकते हैं। अन्यथा आगे पढ़ना कठिन हो जायेगा। जैसे मकान बनाने वाले से कह दिया जाय कि जमीन से ऊपर एक हाथ छोड़कर तब ईंट लगाओ तो खाली जगह छोड़कर एक हाथ ऊपर कैसे ईंटें लग सकती हैं? ठीक इसी प्रकार व्याकरण रूपी मकान खड़ा करने के लिये सारे सूत्र, अर्थ, साधनी, स्थान, प्रयत्न, प्रत्याहार, संज्ञा, आदेश, आगम रूपी ईंटें तैयार हों और उन्हें क्रमशः बुद्धि एवं मस्तिष्क रूपी भूखण्ड के ऊपर बैठाते जाना होगा।

एक बात और भी ध्यान में रखें कि **पाणिनि जी** के लगभग ४००० सूत्रों एवं **कात्यायन जी** के वार्तिकों से ही कौमुदी आदि ग्रन्थ बनाये गये हैं। यदि आप **अष्टाध्यायी** के सभी सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेते हैं तो व्याकरण का सम्पूर्ण ज्ञान करने में बड़ी सुविधा होगी। उन्हें कण्ठस्थ करने का सरल उपाय है प्रतिदिन **अष्टाध्यायी** का पारायण अर्थात् पाठ करना। जिस तरह से हम प्रतिदिन अपने नित्यकर्म में अपने आराध्यदेव की स्तुति का नित्य पाठ करते हैं उसी तरह जब तक कण्ठस्थ न हो जाय तब तक **अष्टाध्यायी** के एक अध्याय के हिसाब से प्रतिदिन पारायण करें। पहले माह में प्रथम अध्याय, दूसरे माह में दूसरा अध्याय, इसी क्रम से आठ माहों में आठों अध्यायों का पारायण हो जायेगा। मेधावी छात्र को इस तरह से आठ माह में पूरी अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जायेगी और जिनको देर से कण्ठस्थ होता है, उन्हें अगली आवृत्ति अर्थात् सोलह माहों में कण्ठस्थ हो जायेगी। अतः अब अष्टाध्यायी का पारायण इस परीक्षा के बाद अनिवार्यतया प्रारम्भ कर दें।

निम्नलिखित प्रश्नावली छात्र अपनी लेखनपुस्तिका में उतारें, अच्छी तरह से मिला लें और दो दिन के लिये पुस्तक को कपड़े बाँधकर रखें और उनकी पूजा करें। इन प्रश्नों का उत्तर लिखने का समय पाँच घण्टे से ज्यादा नहीं होना चाहिये। दो सत्र में पूरा करें और एक ही दिन में ही करें। दूसरे दिन सभी छात्र बैठ कर ३-३ घण्टे आपस में संवाद करें। जो आपको आता है, वो तो ठीक है, और जो आपको नहीं आता, उसे गुरु जी से पूछने में संकोच न करें। कमजोर साथी को सीखाकर अपने साथ चलने में सहयोग दें। ध्यान रहे कि दूसरों को देने पर ही विद्या बढ़ती है। एक तो आपका ज्ञान बढ़ता है और दूसरा दूसरों का उपकार होता है। कभी अपने ज्ञान पर घमण्ड न करें। पढ़े हुये विषय को विस्मृत होने (भूलने) से बचने के लिये प्रतिदिन एक घण्टा आवृत्ति अवश्य करें (दुहरायें)। अपने गुरु जी का सम्मान करें, उन्हें प्रणाम करें। ध्यान रखें कि प्रणाम का फल आशीर्वाद ही है और गुरु के विना पूर्ण ज्ञान नहीं होता। पुस्तक तो सहयोगी मात्र है।

अब आपके अभ्यास के लिये पचास प्रश्न रखे गये हैं। प्रत्येक प्रश्न के सही उत्तर के लिये एक अंक मिलेंगे। आपको तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिये ३५ से ४० अंक, द्वितीय श्रेणी के लिये ४० से ४५ अंक और प्रथम श्रेणी के लिये ४५ से ५० अंक प्राप्त करने होंगे।

परीक्षार्थ प्रश्नावली

१. माहेश्वरसूत्रों की संख्या कितनी हैं?
२. **माहेश्वरसूत्रों** में अचों को कितने सूत्रों से और हलों को कितने सूत्रों से दर्शाया गया है?
३. **हयवर** आदि का अकार हल् प्रत्याहार में क्यों नहीं आता?
४. चतुर्दशसूत्रों का क्या प्रयोजन है?
५. इत्संज्ञा का क्या फल है?
६. **हलन्त्यम्** सूत्र क्या काम करता है?
७. **अदर्शन** का क्या अर्थ है?
८. **अण्, अच्, हल्** आदि प्रत्याहार संज्ञा करने वाला सूत्र कौन है?
९. व्याकरण में कितने प्रत्याहारों का व्यवहार किया गया है?
१०. किन्हीं दश प्रत्याहारों के वर्णों को प्रत्याहार के क्रम से लिखिये?
११. **दीर्घसंज्ञा** का विधान करने वाला सूत्र बताइये?
१२. हल् वर्णों की ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञायें क्यों नहीं होती है?
१३. समाहार किसे कहते हैं?
१४. किन-किन अचों के बारह भेद और किन-किन अचों के अठारह भेद होते हैं?
१५. एचों के बारह भेद ही क्यों हैं?
१६. किस अच् का दीर्घ नहीं होता और किस अच् का ह्रस्व नहीं होता?
१७. अननुनासिक किसे कहते हैं?
१८. स्थान और प्रयत्न क्या हैं?
१९. ब्, ह्, य्, ठ्, घ्, अ, ऋ, श्, भ्, ञ्, ग्, औ, ऐ इनका स्थान बताइये?
२०. ब् और ग् की सवर्णसंज्ञा क्यों नहीं होती?
२१. सवर्णसंज्ञा करने वाला सूत्र वताइये?

२२. **ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्** वार्तिक की क्यों आवश्यकता पड़ी?
२३. यदि **आदिरन्त्येन सहेता** यह सूत्र न हो तो क्या हानि है?
२४. पाणिनि जी ने कौन सा ग्रन्थ बनाया?
२५. **व्याकरण-महाभाष्य** नामक ग्रन्थ किसने बनाया है?
२६. **उपदेश** किसे कहते हैं?
२७. **आभ्यन्तर** और **बाह्य** प्रयत्नों के भेद बताइये?
२८. संज्ञाप्रकरण के सूत्र अष्टाध्यायी के किस अध्याय के हैं?
२९. वर्ग के सभी पाँचवें अक्षर लिखिए।
३०. सूत्र कितने प्रकार के होते हैं, उदाहरण सहित बताइये।
३१. लघुसिद्धान्तकौमुदी, मध्यसिद्धान्तकौमुदी और वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी के रचयिता कौन हैं?
३२. व्याकरण के त्रिमुनि कौन-कौन हैं?
३३. स्पर्शसंज्ञक वर्णों को क्रमशः लिखिये।
३४. **पाणिनीयाष्टाध्यायी** में लगभग कितने सूत्र हैं?
३५. संयोगसंज्ञा क्या है, सूत्र सहित लिखिये।
३६. सुबन्त और तिङन्त किसे कहते हैं?
३७. सन्धि करने के पहले कौन सी संज्ञा होती है?
३८. व् किस वर्ग में आता है?
३९. ऊष्मसंज्ञा किन वर्णों की होती है?
४० **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** यह सूत्र किन किन वर्णों की इत्संज्ञा करता है?
४१. शिवसूत्रों में कौन कौन से वर्ण दो दो बार आये हैं?
४२. लघुसिद्धान्तकौमुदी के संज्ञाप्रकरण में कितने सूत्र और वार्तिक हैं?
४३. **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** इस सूत्र की आवश्यकता संक्षेप में समझाइये।
४४. विसर्ग कितने होते हैं? विवरण सहित बताइये।
४५. मंगलपद्य का समास-विग्रह बताइये।
४६. गु इस वर्णसमुदाय में हल् क्या है और अच् क्या?
४७. सूत्र के साथ लिखे गये तीन प्रकार के अंक क्या बताते हैं?
४८. **य्, व्, ल्** इनके कितने कितने भेद हैं?
४९. **संयोगसंज्ञा** के लिये हलों में किन अक्षरों का व्यवधान नहीं होना चाहिये?
५०. **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** इस सूत्र का हिन्दी में अर्थ बताइये।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का संज्ञाप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथाच्सन्धिः

यणसन्धिविधायकं विधिसूत्रम्

१५. इको यणचि ६।१।७७

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये।

सुधी+उपास्य इति स्थिते।

....

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अब **अच्सन्धिप्रकरण** प्रारम्भ होता है। **अच्** एक प्रत्याहार है, जिसके अन्तर्गत **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** ये वर्ण आते हैं जो ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक इन सभी भेदों के साथ यहाँ पर ग्रहण किये जाते हैं। ऐसे **अच्** अर्थात् **स्वरों की सन्धि**। सन्धि का अर्थ है- जोड़। **दो अचों का जोड़**। पूर्व शब्द के **अन्त में अच्** और पर शब्द के **आदि में अच्** हो और उनकी जो **सन्धि** हो, उसे **अच्सन्धि** कहते हैं। पूर्व और पर का व्यवहार वहीं होता है, जहाँ दो हों। शब्द के सम्बन्ध में पहला शब्द **पूर्व** कहलायेगा और दूसरा शब्द **पर** कहलायेगा। यदि केवल दो ही स्वर हों, दो ही **अच्** हों तो पूर्व और पर के अक्षर ही लिए जाते हैं। अच्सन्धि में पूर्व और पर में केवल अचों की ही सन्धि होगी किन्तु हल्सन्धि में पूर्व में हल् ही हो किन्तु पर में प्रायः हल् हो और कहीं-कहीं पर में अच् हो तो भी सन्धि हो जाती है। विसर्ग को लेकर होने वाली सन्धि को **विसर्गसन्धि** कहते हैं। इसी प्रकार हलों को लेकर होने वाली सन्धि को **हल्सन्धि** कहते हैं और **अचों की सन्धि** को **अच्सन्धि** कहते हैं। सन्धि हो जाने के बाद दो शब्दों को प्रायः एक ही स्थान पर लिखा जाता है।

आपके हाथों में दो रस्सियाँ हैं और आप उन्हें गाँठ लगाकर जोड़ना चाहते हैं तो आप दोनों रस्सियों को दो हाथों में लेंगे। बायें हाथ की रस्सी के अन्तिम भाग और दायें हाथ की रस्सी के शुरुवाती भाग को लेकर गाँठ लगाते हैं। अर्थात् जब दो भागों को जोड़ना हो तो पूर्व का अन्त भाग और पर का आदि भाग ही काम में लिया जाता है।

सन्धि हो जाय, ऐसा विधान **सूत्र** करते हैं। सूत्र और वार्तिक ही व्याकरण में शास्त्र हैं और जो भी काम यहाँ होगा, वह सूत्रों के आदेश से ही होगा। अब आइये, सब से पहले अचों की सन्धि को समझते हैं। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** के अच्सन्धिप्रकरण में **यणसन्धि, अयादिसन्धि, गुणसन्धि, वृद्धिसन्धि, पररूपसन्धि, सवर्णदीर्घसन्धि, पूर्वरूपसन्धि और प्रकृतिभाव** ये सन्धियाँ बताई गई हैं।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

१६. तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६॥

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

....

प्राय: पूरे **सन्धिप्रकरण** में **संहितायाम्** का अधिकार रहता है। **संहिता** एक संज्ञा है जो **पर: सन्निकर्ष: संहिता** से होती है। **संहिता** में ही सन्धि के विधान होने के कारण **वर्णों की अत्यन्त समीपता रहने पर ही सन्धिकार्य होता है।**

१५- **इको यणचि।** इक: पष्ठ्यन्तं, यण् प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

इक् के स्थान पर यण् होता है, अच् परे होने पर, संहिता के विषय में।

यह सूत्र यण्सन्धि अर्थात् यण् आदेश का विधान करता है। अत: यह यण् आदेश-विधायक विधिसूत्र है। सारे सूत्र सभी जगहों पर नहीं लगते। उनकी कुछ शर्तें होती हैं। जो उनकी शर्तों को पूरा करता है, वहीं पर सूत्र प्रवृत्त होते हैं अर्थात् सूत्र लगते हैं। जैसे यण् आदेश करने के लिए **इको यणचि** इस सूत्र ने शर्त रखी कि जहाँ **पूर्व में इक्** प्रत्याहार का वर्ण हो और पर में **अच्** प्रत्याहार का वर्ण हो, वहाँ **इक्** प्रत्याहार वाले वर्णों के स्थान पर मैं **यण्** आदेश करूँगा। **इक्** प्रत्याहार में **इ, उ, ऋ, लृ** ये वर्ण आते हैं और **अच्** प्रत्याहार में **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** ये वर्ण आते हैं। जिस जगह पूर्व में **इक्** प्रत्याहार के इ, उ, ऋ, लृ में से कोई भी एक वर्ण हो और **पर में अच्** प्रत्याहार के अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ में से कोई भी एक वर्ण हो तो **इक्** के स्थान पर **यण्** अर्थात् **य्, व्, र्, ल्** ये वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त हो जाते हैं। जैसे- **सुधी+उपास्य:** में धी का **ईकार** इक् है और **उपास्य:** वाला **उकार** अच् है और वह पर में विद्यमान है। अत: **धी** के **ईकार** के स्थान पर **य्, व्, र्, ल्** ये चारों यण् आदेश के रूप में प्राप्त हुए।

जो भी **आदेश** होता है, वह **किसी वर्ण के स्थान पर** ही होता है अर्थात् उसे हटाकर ही होता है। यहाँ **ई** के स्थान पर **यण्** आदेश के रूप में **ई** को हटाकर बैठना चाहते हैं। यहाँ पर **संहिता का विषय** भी है, क्योंकि **सुधी+उपास्य:** में **पर: सन्निकर्ष: संहिता** से **संहितासंज्ञा** हो चुकी है। **धी** के **ई** और **उपास्य:** के **उ** की अत्यन्त समीपता अर्थात् अत्यन्त सन्निधि है। अत: यह **संहिता** है।

१६- **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।** तस्मिन् सप्तम्यन्तानुकरणम्, इति अव्ययपदं, निर्दिष्टे सप्तम्यन्तं, पूर्वस्य षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

सूत्र में सप्तमी-विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट कार्य व्यवधान रहित पूर्व वर्ण के स्थान पर होता है।

किसी सूत्र के द्वारा किसी वर्णविशेष के परे होने पर किसी वर्णविशेष के स्थान पर किसी कार्य का विधान किया जाता है तो वह कार्य पर से अव्यवहित पूर्व अर्थात् पूर्व और पर के बीच में किसी वर्ण आदि का व्यवधान न हो, ऐसी स्थिति में पूर्व के स्थान पर कार्य होवे। दो के बीच में किसी अन्य का होना व्यवधान है और दो के बीच में किसी का न होना अव्यवधान है। यह सूत्र **व्यवधान न हो** ऐसा कहता है अर्थात् **पर से पूर्व में अव्यवधान होने पर ही कार्य हो,** ऐसा नियम करता है। जैसे- **सुधी+उपास्य:**(स्+उ=सु, ध्+ई=धी, उ+प्+आ) यहाँ पर **सु** का **उकार** इक् है और उससे **धी** का ईकार अच् परे है,

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

१७. स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्।

सुध्य् उपास्य इति जाते।

....

इसी तरह **धी** का **ईकार** इक् है और उससे परे अच् है **उपास्यः** उकार और **उपास्यः** के उकार को इक् मानकर **पा** का आकार अच् परे है। ऐसी स्थिति में **सु** के **उकार** के स्थान पर, **धी** के **ईकार** के स्थान पर और **उपास्यः** के **उकार** के स्थान पर यण् प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में एक प्रकार का अनियम हुआ, वह यह कि **धी** के **ईकार** को अच् परे मानकर **सु** के **उकार** के स्थान पर यण् किया जाय अथवा उपास्यः के उकार को अच् परे मानकर धी के ईकार के स्थान पर यण् किया जाय अथवा **पा** के **आकार** को अच् परे मानकर **उपास्यः** के उकार के स्थान पर यण् किया जाय? अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्र को **परिभाषासूत्र** कहते हैं। **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा।** नियम करने के लिए परिभाषासूत्र की उपस्थिति होती है। सभी **परिभाषा सूत्र** अपनी-अपनी प्रवृत्ति के योग्य स्थलों को देखकर उन उन विधि सूत्रों में उपस्थित होते हैं।

इस सूत्र ने यह विधान किया कि सप्तमी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट जो वर्ण या शब्द, उससे व्यवधान रहित पूर्व वर्ण के स्थान पर आदेश आदि कार्य करना चाहिए अर्थात् **पूर्व और पर के बीच में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिए।** यण्विधायक सूत्र है- **इको यणचि**। उसमें सप्तम्यन्त पद है- **अचि**। अच् के परे होने पर अच् से व्यवधान रहित पूर्व में विद्यमान इक् के स्थान पर यण् होवे। प्रकृत प्रसंग **सुधी+उपास्यः** में **सु** के **उकार** से **धी** के **ईकार** को **अच् परे** मानने पर बीच में **ध्** का व्यवधान है एवं **उपास्यः** वाले **उकार** से **पा** के **आकार** को **अच् परे** मानने पर बीच में **प्** का व्यवधान है किन्तु **धी** के **ईकार** से **उपास्यः** के **उकार** को **अच् परे** मानने पर किसी भी वर्ण का व्यवधान नहीं है। अतः **उपास्यः** के **उकार** को अच् परे मान कर के **धी** के **ईकार** के स्थान पर ही **यण्** की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से सर्वत्र समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि **पर को मानकर जो कार्य हो वहाँ पर से पूर्व के बीच में किसी अन्य का व्यवधान न हो।** इसी प्रकार आगे **एचोऽयवायावः**, **वान्तो यि प्रत्यये**, **एङि पररूपम्**, **झलां जश् झशि** आदि सूत्रों में **सप्तम्यन्त पदों** के निर्देश से किये जाने वाले कार्यों में यह सूत्र उपस्थित होता है और **सप्तम्यन्त पद से निर्दिष्ट से अव्यवहित पूर्व को ही कार्य हो**, ऐसा अर्थ उपस्थापित करता है।

१७- स्थानेऽन्तरतमः। स्थाने सप्तम्यन्तम्, अन्तरतमः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

प्रसङ्ग रहने पर (स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाण से) तुल्यतम **(अत्यन्त तुल्य) आदेश होवे।**

सुधी+उपास्यः इस प्रयोग में **धी** के **ईकार** के स्थान पर जब **यण्** प्राप्त हुआ तो **यण्** संख्या में **चार** हैं और **इक्** अर्थात् **धी** का ईकार **एक** ही है। **जिसके स्थान पर आदेश होगा वह स्थानी माना जाता है।** स्थानी तो **ईकार** के रूप में **एक** ही है और आदेश **य्, व्, र्, ल्** ये **चार-चार** प्राप्त हुए। **एक** के स्थान पर **चारों** की प्राप्ति हुई।

द्वित्वविधायकं विधिसूत्रम्

१८. अनचि च ८।४।४७॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि।

इति धकारस्य द्वित्वेन सुध्ध्य् उपास्य इति जाते।

....

किस वर्ण को लिया जाय और किसे छोड़ा जाय? **य्** को लिया जाय अथवा **व्, र्, ल्** में से किसी को लिया जाय? अनियम हुआ अर्थात् किसी एक वर्ण के ग्रहण करने में कोई नियम नहीं बन पाया। अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्र को परिभाषासूत्र कहते हैं। **अनियमे नियमकारिणी परिभाषा**। नियम करने वाला **स्थानेऽन्तरतमः** यह परिभाषा सूत्र है। यह सूत्र **प्रसंग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम आदेश हो,** ऐसा विधान करता है। प्रसंग का अर्थ है ''**प्राप्त होने पर**''। तुल्यता, समानता, सादृश्य से आदेश का विधान हो। किस की तुल्यता ग्रहण करें? **स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाण की तुल्यता** ग्रहण करें। **स्थानी** का **आदेश** के साथ **स्थान, अर्थ,** गुण और **प्रमाण** में से किसी एक की **तुल्यता** होनी चाहिये.

स्थान सबसे पहले है। अतः **स्थान** से तुल्यता देखेंगे। स्थान से तुल्यता न होने पर **अर्थ** से तुल्यतां, अर्थ से तुल्यता न होने पर **गुण** से तुल्यता और गुण से भी तुल्यता न होने पर **प्रमाण** से तुल्यता देखेंगे। जहाँ पर एक से अधिक तुल्यता की विद्यमानता हो वहाँ **स्थान** की तुल्यता ग्रहण करनी चाहिए- **यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः**।

यहाँ पर सुधी का जो ईकार है उसका स्थान तालु है- **इचुयशानां तालु**। अब चारों **यणों** में **तालु स्थान** वाला केवल **य्** है। अतः **स्थानी** रूपी **ईकार** के साथ **आदेश** रूपी य् का स्थान से **साम्य** हुआ अर्थात् **ईकार** और **यकार** में स्थान तुल्यता है। अतः **ईकार** के स्थान पर आदेश के रूप में बैठने का अधिकार **य्** को प्राप्त हुआ। इस परिभाषा सूत्र के फलस्वरूप य् को छोड़कर **व्, र्, ल्** ये वर्ण अपने-आप हट गये **क्योंकि ईकार** का य् के साथ स्थान को लेकर तुल्यता है और **व्, र्, ल्** के साथ तुल्यता नहीं है। **फलतः सुधी** के **ईकार** के स्थान आदेश के रूप में बैठने के लिए **य्** को अधिकार मिला। अतः धी के ईकार को हटाकर य् आकर बैठ गया तो **सुध्य्+उपास्य** बना।

१८- अनचि च। न अच्- अनच्, तस्मिन् अनचि(नञ् तत्पुरुषः) अनचि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **यरः** और **वा** तथा **अचो रहाभ्यां द्वे** से **द्वे** की अनुवृत्ति आती है।

अच् से परे यर् का विकल्प से द्वित्व होता है किन्तु अच् परे हो तो नहीं होता।

यह **द्वित्व** करता है। एक वर्ण को दो कर देता है। **अच्** वर्ण के बाद उच्चारित **यर्** प्रत्याहार वाले वर्ण का **द्वित्व** करता है किन्तु उस **यर्** के बाद कोई **अच्** वर्ण परे नहीं होना चाहिए। **हल्** परे हो या नहीं कोई फर्क नहीं पड़ता। एक पक्ष में होना और एक पक्ष में न होना, इसी को **विकल्प** कहते हैं।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य और **स्थानेऽन्तरतमः** इन दो सूत्रों की सहायता से

जश्त्वविधायकं विधिसूत्रम्

१९. झलां जश् झशि ८।४।५३॥

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

....

सुधी+उपास्यः में **धी** के **ईकार** के स्थान पर **यण्** होकर **सुध्य्+उपास्यः** बन जाने के बाद **अनचि च** यह सूत्र लगता है। **अच्** है **सु** में **उकार**, उससे परे यर् है ध्, उससे परे **अच्** कोई नहीं है, **हल्** परे है **य्**, उससे कोई बाधा नहीं है। अतः यर् ध् का इस सूत्र से द्वित्व कर दिया गया। अब **सुध्ध्य्+उपास्यः** बन गया। ध्यान रहे कि यह द्वित्व विकल्प से होता है। एक पक्ष में द्वित्व रहेगा और एक पक्ष में नहीं रहेगा। द्वित्व पक्ष का एक रूप और द्वित्व न होने के पक्ष में एक रूप, इस प्रकार से दो-दो रूप बनेंगे। अब इसके बाद और भी प्रक्रिया होनी है।

१९- **झलां जश् झशि**। झलां षष्ठ्यन्तं, जश् प्रथमान्तं, झशि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

झल् के स्थान पर जश् आदेश होते हैं, झश् के परे होने पर।

यह सूत्र पूर्व में **झल्** प्रत्याहार का वर्ण हो और पर में **झश्** प्रत्याहार का वर्ण हो तो पूर्व के **झल्** के स्थान पर **जश्** अर्थात् **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये आदेश करता है अर्थात् **झश्** के परे होने पर **झल्** के स्थान पर **जश्** आदेश हो जाता है। इस सूत्र के कार्य को **जश्त्व** कहते हैं। झल् में वर्ग के **पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे** वर्ण तथा **श्, ष्, स्, ह्** ये वर्ण आते हैं। **जश्** में वर्ग के **तीसरे** अक्षर आते हैं। **झश्** में वर्ग के **तीसरे** और **चौथे** वर्ण आते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान की साम्यता को लेकर **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये आदेश होते हैं। **क्, ख्, ग्, घ्, ह्** के स्थान पर **कण्ठस्थान** की साम्यता को लेकर **ग्** आदेश, **च्, छ्, ज्, झ्, श्** के स्थान पर **तालुस्थान** की साम्यता को लेकर **ज्** आदेश, **ट्, ठ्, ड्, ढ्, ष्** के स्थान पर **मूर्धास्थान** की साम्यता को लेकर **ड्** आदेश, **त्, थ्, द्, ध्, स्** के स्थान पर **दन्तस्थान** की साम्यता को लेकर **द्** आदेश और **प्, फ्, ब्, भ्** के स्थान पर **ओष्ठस्थान** की साम्यता से **ब्** आदेश हो जाते हैं।

अनचि च से **धकार** को **द्वित्व** होकर **सुध्ध्य्+उपास्यः** बन जाने के बाद इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहाँ दो **ध्** बन गये हैं, एक प्रथम धकार और दूसरा द्वितीय धकार। **प्रथम धकार** को **झल्** मानकर **दूसरे धकार** को **झश्** परे मानें। अतः **प्रथम धकार** झल् के स्थान पर **जश्** अर्थात् **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये पाँचों प्राप्त हुए। स्थानी एक ही **ध्** है और आदेश **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये पाँच हैं। एक के स्थान पर पाँच प्राप्त हुए तो अनियम हुआ। अतः नियम करने के लिये परिभाषा सूत्र **स्थानेऽन्तरतमः** लगा। उसका अर्थ है- **प्रसंग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम आदेश हों।** स्थान से तुल्यता मिलाने पर स्थानी रूपी ध् का **दन्तस्थान** है- **लृतुलसानां दन्ताः**। दन्त्य स्थान वाला ही **जश्** चाहिये। पाँचों आदेशों में दन्त्य स्थान वाला **द्** मिलता है अर्थात् **दकार** का भी **दन्तस्थान** है। अतः **सुध्ध्य्** में प्रथम **धकार** के स्थान पर **द्** आदेश हुआ तो **सुद्ध्य्+उपास्यः** बन गया। अब इसके बाद **द्ध्य्** ये तीनों हल् वर्ण हैं। इन तीनों के बीच में कहीं भी **अच्** नहीं है। अतः **द्ध्य्** की **हलोऽन्तराः संयोगः** इस सूत्र से **संयोगसंज्ञा** हो जाती है। यहाँ पर **संयोगसंज्ञा** का फल लोप करना है। लोप करने के लिए आगे **संयोगान्तस्य लोपः** की प्रवृत्ति होती है।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

२०. संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३॥

संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात्।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

२१. अलोऽन्त्यस्य १।१।५२॥

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते-

वार्तिकम्- **यणः प्रतिषेधो वाच्यः।**

सुद्ध्युपास्यः। मद्ध्वरिः। धात्त्रंशः। लाकृतिः।

....

२०- **संयोगान्तस्य लोपः**। संयोगान्तस्य षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। संयोगः अन्ते अस्ति यस्य तत् संयोगान्तम्, (बहुव्रीहिः) तस्य संयोगान्तस्य। इस सूत्र में **पदस्य** का अधिकार आता है।

संयोगान्त जो पद, उसके अन्त्य का लोप होता है।

जिन अच् रहित हल्वर्णों की **हलोऽनन्तराः संयोगः** से संयोग संज्ञा होती है, यदि वह संयोग अन्त में रहे, ऐसा जो पद (पदसंज्ञक शब्द) उसका लोप हो। इस सूत्र के द्वारा अच् से रहित **द्ध्य्** इस संयोगसंज्ञक वर्णों के साथ संयोगान्तपद **सुद्ध्य्** इस पूरे पद का लोप प्राप्त हुआ। पूरे पद का लोप होना भी ठीक नहीं है। इस प्रकार से सम्पूर्ण पद लुप्त हो जायेंगे तो फिर शब्द ही कहाँ बचेंगे? इस अनियम को रोकने के लिये परिभाषा सूत्र उपस्थित होता है- **अलोऽन्त्यस्य।**

एक पद्धति यह भी है कि **अलोऽन्त्यस्य** यह परिभाषासूत्र स्वयं **संयोगान्तस्य लोपः** के पास जाकर एकवाक्यता करके **संयोगान्त पद के अन्त्य का लोप हो** यह अर्थ बना देता है। ऐसा करने पर **अलोऽन्त्यस्य** को अलग से लगाने की जरूरत नहीं पड़ेगी। यह पद्धति आगे स्पष्ट हो जायेगी।

२१- **अलोऽन्त्यस्य।** अलः षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

षष्ठीविभक्ति द्वारा निर्दिष्ट जिस पद के स्थान पर आदेश प्राप्त हो, वह आदेश अन्त्य अल् वर्ण के स्थान पर होता है।

सुद्ध्य् इस पद में लोप आदेश **संयोगान्तस्य लोपः** से प्राप्त है। इस सूत्र में षष्ठ्यन्त पद है **संयोगान्तस्य**। उसके द्वारा निर्दिष्ट पद है **सुद्ध्य्**। उसके स्थान पर प्राप्त आदेश है **लोप**। वह **अलोऽन्त्यस्य** इस सूत्र के नियम से **अन्त्य अल्** वर्ण **सुद्ध्य्** में **य्** के स्थान पर लोप प्राप्त हुआ अर्थात् **सुद्ध्य्** में अन्त्य अल् **य्** का लोप प्राप्त हुआ। इस लोप को भी रोकने के लिये **कात्यायन जी** का वार्तिक आया **यणः प्रतिषेधो वाच्यः।**

यणः प्रतिषेधो वाच्यः। यह वार्तिक है। **यण् के लोप का निषेध कहना चाहिए**। यह सब जगह यण् के लोप का निषेध नहीं करता किन्तु **अलोऽन्त्यस्य** की सहायता से **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा प्राप्त **यण् के लोप** का निषेध करता है। तात्पर्य यह है कि **संयोगान्तस्य लोपः** यह सूत्र संयोग के अन्त में विद्यमान वर्णों का लोप करता है किन्तु वह लोप **यण्** के सम्बन्ध में नहीं होता। इस वार्तिक के बल पर

सुद्ध्य् में जो **संयोगान्तस्य लोपः** से **यकार** का लोप प्राप्त था, वह रूक गया उसका लोप नहीं हुआ।

सुद्ध्य् उपास्यः ऐसी स्थिति बनी हुई है। अब इसके बाद संस्कृत भाषा में एक ऐसा नियम है कि अचों से रहित वर्णों को आगे के वर्णों से जोड़ना चाहिये- **अज्झीनं परेण संयोज्यम्**। यहाँ पर अचों से रहित वर्ण हैं **द्ध्य्**। ये क्रमशः आगे मिलते जायेंगे। इस क्रिया को **वर्णसम्मेलन** भी कहते हैं। जैसे **य्** जाकर के **उपास्यः** के उकार में मिल गया- **युपास्यः** बना। **ध्** जा कर के **युपास्यः** में मिल गया तो **ध्युपास्यः** बना गया और **द्** जा कर के **ध्युपास्यः** में मिल गया तो **द्ध्युपास्यः** यह सिद्ध हुआ। **सु** यह अच् युक्त वर्ण है, यह मिलने नहीं जायेगा किन्तु बगल में जा बैठेगा। इस तरह **सुद्ध्युपास्यः** सिद्ध हुआ।

अनचि च यह सूत्र विकल्प से द्वित्व करता है। एक पक्ष में द्वित्व नहीं हुआ तो **सुध्य् उपास्यः** ही रहा। झल् परे न होने के कारण **झलां जश् झशि** से जश्त्व भी नहीं हुआ। बाकी सारी प्रक्रिया उसी प्रकार की है। **सुद्ध्य्+उपास्यः** में भी **वर्णसम्मेलन** होता है अर्थात् **य्** उकार से मिल कर **युपास्यः** बनता है, **ध्** युपास्यः से मिलकर **ध्युपास्यः** बनता और **सुध्युपास्यः** हो जाता है। इस तरह द्वित्वाभाव में **सुध्युपास्यः** यह रूप सिद्ध हुआ। इस प्रकार से इतने सूत्रों की प्रक्रिया के बाद **सुधी+उपास्यः** यह स्थिति सन्धि हो कर **सुद्ध्युपास्यः** एवं **सुध्युपास्यः** इस रूप में बदल गई अर्थात् ये दो रूप सिद्ध हुए। **अर्थः**- **सुधीभिः उपास्यः** विद्वानों के द्वारा उपासना किये जाने वाले **भगवान् विष्णु**।

अब आप इस प्रक्रिया को अच्छी तरह से समझ लें। यदि **सुद्ध्युपास्यः** साधने आ जाय तो आगे के प्रयोगों, साधनियों को भी अच्छी तरह से साध लेंगे, समझ लेंगे, सिद्ध कर लेंगे, अन्यथा बड़ी परेशानी होगी।

सुद्ध्युपास्यः को संक्षिप्त रूप में भी साधते हैं- **सुधी+उपास्यः** इस स्थिति में **परः सन्निकर्षः संहिता** से **संहितासंज्ञा** हो गई और सूत्र लगा **इको यणचि। इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे रहने पर संहिता के विषय में। तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इस परिभाषा के नियमानुसार व्यवधान रहित **इक्** है **सुधी** में धकारोत्तरवर्ती **ईकार** और **अच्** परे है **उपास्यः** का **उकार**। अतः इस सूत्र से **धी** के **ईकार** के स्थान पर **यण्** अर्थात् **य्, व्, र्, ल्** ये चारों प्राप्त हुये। एक के स्थान पर चार वर्णों की प्राप्ति होना अनियम हुआ। नियम करने के लिये परिभाषा सूत्र आया **स्थानेऽन्तरतमः। प्रसंग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम आदेश होते हैं।** प्रसंग है एक के स्थान पर अनेक की प्राप्ति। अब स्थान से मिलाने पर स्थानी **ईकार** का तालु स्थान है और चारों यण्रूप आदेशों में तालु स्थान वाला केवल **य्** है। अतः **ईकार** के स्थान पर **य्** आदेश हुआ। **सुध्य्+उपास्यः** बना। अब सूत्र लगा- **अनचि च।** अच् से परे यर् का द्वित्व विकल्प से हो, अच् परे न होने पर। अब **सुद्ध्य्+उपास्यः** में अच् है **सु** का **उकार**, उससे परे **यर्** है **ध्**, उससे अच् परे नहीं है। अतः इस सूत्र से एक पक्ष में **धकार** का **द्वित्व** हुआ, **सुध्ध्य् उपास्यः** बना।

इसके बाद सूत्र लगता है- **झलां जश् झशि।** झल् के स्थान पर जश् आदेश हो, झश् परे रहने पर। **सुध्ध्य् उपास्यः** में **झल्** है पहला **धकार** और **झश्** परे है दूसरा **धकार** तो पहले **धकार** के स्थान पर **जश्** अर्थात् **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये पाँचों आदेश प्राप्त हुये। एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति हुई, यह भी अनियम हुआ। अतः नियमार्थ परिभाषा सूत्र लगा **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान से तुल्यता करने पर स्थानी **ध्** का दन्तस्थान और **ज्,**

....

ब्, ग्, ड्, द् में **दन्तस्थान** वाला केवल **द्** मिलता है। अतः **ध्** को हटाकर **द्** आदेश हुआ- **सुद्ध्य् उपास्यः** बना। अब **द्ध्य्** की **हलोऽनन्तराः संयोगः** से **संयोगसंज्ञा** हुई और **सुद्ध्य्** का **संयोगान्तस्य लोपः** से लोप प्राप्त हुआ तो **अलोऽन्त्यस्य** के द्वारा केवल **य्** के लोप का निर्देश प्राप्त हुआ। फिर वार्तिक लगा- **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** यण् का लोप निषेध होता है। **यण्** है **य्**, उसका लोप नहीं हुआ।

अज्झीनं परेण संयोज्यम् अच् से हीन वर्ण पर वर्ण से जुड़ता है। **द्ध्य्** इनमें से क्रमशः पहले **य्**, उसके बाद **ध्** और उसके बाद **द्** ये अच् रहित वर्ण पर वर्ण से जुड़ते गये तो बना **सुद्ध्युपास्यः**। द्वित्व न होने के पक्ष में **सुध्युपास्यः**।

अब संस्कृत भाषा में भी सिद्ध करते हैं- **सुधी+उपास्यः** इतिस्थितौ **परः सन्निकर्षः संहिता** इत्यनेन सूत्रेण संहितासंज्ञायाम् **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, स्थानेऽन्तरतमः** इतिसूत्रद्वयसहकारेण **इको यणचि** इतिसूत्रेण यणि **सुध्य् उपास्यः** इति जाते, **अनचि च** इतिसूत्रेण धकारस्य द्वित्वे, **सुध्ध्य् उपास्यः** इति जाते, **झलां जश् झशि** इतिसूत्रेण धकारस्य जश्त्वे **सुद्ध्य् उपास्यः** इति जाते, द्ध्य्वर्णानां संयोगसंज्ञायाम् **अलोऽन्त्यस्य** इतिसूत्रसहकारेण **संयोगान्तस्य लोपः** इतिसूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** इतिवार्तिकेन तन्निषेधे वर्णसम्मेलने **सुद्ध्युपास्यः** इति रूपं सिद्धम्। द्वित्वाभावे **सुध्युपास्यः** इति रूपं भवति।

इक् प्रत्याहार के इ, उ, ऋ, लृ में से केवल इकार का उदाहरण **सुद्ध्युपास्यः** है। आगे उकार का उदाहरण **मद्ध्वरिः**, ऋकार का उदाहरण **धात्रंशः** और लृकार का उदाहरण **लाकृतिः** बता रहे हैं।

मद्ध्वरिः=मधु नामक दैत्य के शत्रु भगवान विष्णु। **मधु+अरिः**, इस स्थिति में **परः सन्निकर्षः संहिता** से संहितासंज्ञा होने के बाद **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इस सूत्र की सहायता से सप्तमीनिर्दिष्ट **अच्** से अव्यवहित पूर्व **मधु** के **उकार** के स्थान पर **इको यणचि** से यण् प्राप्त। **इक्** है **मधु** का **उकार** और **अच्** परे है **अरिः** का **अकार**। अतः **मधु** के **उकार** के स्थान पर **य्, व्, र्, ल्** इन चारों की प्राप्ति हुई, अनियम हुआ। नियमार्थ सूत्र आया **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान की तुल्यता मिलाने पर **मधु** के **उकार** का ओष्ठ स्थान है। आदेशों में **व्** का दन्त-**ओष्ठ** स्थान। इसमें केवल **ओष्ठ स्थान** की तुल्यता ले कर के **मधु** के **उकार** के स्थान पर **व्** आदेश हुआ, **मध्व् अरिः** बना। **अनचि च** से धकार को द्वित्व और **झलां जश् झशि** से जश्त्व हो कर के **मद्ध्व् अरिः** बना। **द्ध्व्** की **संयोगसंज्ञा** के बाद **अलोऽन्त्यस्य** के सहयोग से **संयोगान्तस्य लोपः** से **व्** का लोप प्राप्त। **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** इसके द्वारा लोप का निषेध हुआ। वर्णसम्मेलन होकर **मद्ध्वरिः** सिद्ध हुआ। द्वित्व न होने के पक्ष में **मध्वरिः** बनता है।

धात्रंश=ब्रह्मा का भाग। **धातृ+अंशः** की **परः सन्निकर्षः संहिता** से संहितासंज्ञा हुई और **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इस सूत्र की सहायता से सप्तमीनिर्दिष्ट **अच्** से अव्यवहित पूर्व **धातृ** के **ऋकार** के स्थान पर **इको यणचि** से यण् प्राप्त होता है। यहाँ पर इक् है **धातृ** का **ऋकार** और अच् परे है **अंशः** का **अकार**। अतः उक्त सूत्र से धातृ के **ऋकार** के स्थान पर **य्, व्, र्, ल्** चारों की प्राप्ति हुई। एक के स्थान पर चार वर्णों की प्राप्ति होता अनियम हुआ। अतः नियमार्थ सूत्र आया- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान की तुल्यता मिलाने पर **धातृ** में **ऋकार** का **मूर्धास्थान** और आदेशों में र् का **मूर्धास्थान** है, अतः मूर्धास्थान से साम्यता हुई और **धातृ** के **ऋकार** के स्थान पर र् आदेश हुआ, **धात्र्+अंशः**

बना। **अनचि च** से तकार का द्वित्व हुआ, **धात्त्र्+अंशः** बना। यहाँ पर **झलां जश् झशि** नहीं लगेगा। क्योंकि **झश्** परे नहीं है।। **त्त्र्** की संयोग संज्ञा, **अलोऽन्त्यस्य** के सहयोग से **संयोगान्तस्य लोपः** से र् का लोप प्राप्त। **यणः प्रतिषेधो वाच्यः** इस वार्तिक के द्वारा लोप का निषेध हुआ। **धात्त्र् अंश** बना हुआ है। इसमें वर्णसम्मेलन होकर **धात्त्रंशः** सिद्ध हुआ। द्वित्व न होने के पक्ष में **धात्रंशः** बनता है।

लाकृतिः=लृ के समान टेढ़ी आकृति है जिसकी ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण। **लृ+आकृतिः** इस स्थिति में **संहितासंज्ञा** करने के बाद **अच्** से अव्यवहित इक् **लृ** के स्थान पर **इको यणचि** से यण् प्राप्त होता है। यहाँ पर **इक्** है **लृ** और **अच्** परे है **आकृतिः** का **आकार**। अतः **लृ** के स्थान पर य्, व्, र्, ल् चारों की प्राप्ति, अनियम हुआ। नियमार्थ सूत्र आया **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान की तुल्यता मिलाने पर **लृ** का **दन्त-स्थान**, आदेशों में भी **ल्** का दन्त-स्थान है। दन्त-स्थान की तुल्यता से **लृ** के स्थान पर **ल्** आदेश हुआ, **ल्** आकृतिः बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **लाकृतिः**। यहाँ पर **यर्** से पहले **अच्** न होने के कारण **अनचि च** नहीं लगा। **झल्** परे न होने के कारण **झलां जश् झशि** से जश्त्व नहीं हुआ। एक ही हल् होने के कारण **संयोगसंज्ञा** नहीं हुई। **संयोगसंज्ञा** के अभाव में **अलोऽन्त्यस्य** और **संयोगान्तस्य लोपः** नहीं लगे। जब लोप ही नहीं प्राप्त हुआ तो लोप निषेध के लिये वार्तिक की भी आवश्यकता नहीं हुई। इस तरह से **लृ+आकृतिः** में केवल **यण्** होकर वर्णसम्मेलन करने पर **लाकृतिः** सिद्ध हुआ। यहाँ **लृ** यह केवल अच् वर्ण है न कि **ल्** के साथ लगा हुआ **ऋ**।

यहाँ पर यण्विधायक सूत्र **इको यणचि** के **सुद्ध्युपास्यः**, **मद्ध्वरिः**, **धात्त्रंशः** और **लाकृतिः** ये चार ही उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार के अर्थात् **पूर्व में इक्** और **पर में अच् होने पर** असंख्य जगहों पर **यणसन्धि** होती है। जैसे- **दधि+ओदनः=दध्योदनः**, **वधू+आनयनम्=वध्वानयनम्**, **पितृ+आह्वानम्=पित्राह्वानम्** आदि। अब आप अपने आप ऐसे प्रयोगों को ढूँढ कर सन्धिविच्छेद करके पुनः सन्धि करने का प्रयत्न करें।

व्याकरण के द्वारा सिद्ध प्रयोगों के उपयोग के लिए क्षेत्र संस्कृतवाङ्मय के सभी ग्रन्थ हैं, फिर भी व्याकरण का अध्ययन कर रहे छात्रों के लिए सबसे पहले तो व्यवहार में आने वाले छोटे छोटे सन्धियोग्य वाक्यों का अभ्यास करना चाहिए। छात्र को चाहिए कि प्रत्येक सन्धि के योग्य प्रयोग ढूँढे और उनमें सूत्र लगाकर अभ्यास करे। इसके साथ ही **महाकवि कालिदास** के द्वारा रचित **रघुवंशमहाकाव्यम्** नामक ग्रन्थ भाषाज्ञान की दृष्टि बहुत उपयोगी है। अतः उन श्लोकों में पद पद अलग करके इसमें अमुक सन्धि के योग्य कौन सा शब्द है, यह अन्वेषण करे। जैसे कि सर्वप्रथम **रघुवंशमहाकाव्य** के प्रथमसर्ग को ही लें। उसमें यण्सन्धि वाले कौन कौन से शब्द हैं! इस तरह खोजें। इसी तरह अयादि आदेशसन्धि, गुणसन्धि, वृद्धिसन्धि, पूर्वरूपसन्धि, पररूपसन्धि, सवर्णदीर्घसन्धि के पद कौन हैं? इस तरह खोजी प्रवृत्ति बनाये तो व्याकरण का भी शीघ्र ज्ञान होगा और शब्दभण्डार भी बढ़ेगा। व्याकरण के द्वारा बनाये गये शब्दों का प्रयोग भी हो सकेगा।

अच्सन्धिप्रकरण में यण् करने वाला यह एक ही सूत्र है किन्तु इसके बाधक सूत्र अनेक हैं। **बाधक** उसे कहते हैं जो किसी सूत्र को प्रवृत्त होने से रोकता है और स्वयं प्रविष्ट होता है, स्वयं कार्य करता है। जो सूत्र बाधता है उसे **बाधक** और जो बाधित हो जाता है उसे **बाध्य** सूत्र कहते हैं। इस प्रकार से सूत्रों के आपस में **बाध्य-बाधक** प्रक्रिया भी होती है। **बाध्य** सूत्र सामान्य होता है और **बाधक** सूत्र **विशेष** होता है। **बाध्य** और

बाधक का प्रसंग तभी आता है, जब दोनों सूत्रों के लगने में आवश्यक कारण अर्थात् स्वर, व्यंजन, प्रकृति, प्रत्यय आदि का एक ही क्षेत्र हो। जो सूत्र अधिक जगह पर लगे उसे **सामान्य** या **उत्सर्ग** सूत्र कहते हैं और जो कम जगहों पर ही लगता हो उसे **विशेष** सूत्र कहते हैं। **सामान्य शास्त्र** एवं **विशेष शास्त्र** अर्थात **सामान्य सूत्र** एवं **विशेष सूत्र** एक जगह पर एक साथ लगने के लिये आ जायें तो वहाँ पर **सामान्य सूत्र** को **विशेष सूत्र** बाधता है और **विशेष सूत्र** स्वयं लग जाता है। इसका उदाहरण हम आगे स्पष्ट करते रहेंगे।

सुद्ध्युपास्यः, मद्ध्वरिः, धात्त्रंशः, लाकृतिः। इन उदाहरणों का तात्पर्यः- अध्येतागण इस बात को भी जान लें कि व्याकरण का उद्देश्य केवल शब्दज्ञान, सन्धिज्ञान मात्र नहीं है अपितु उसके साथ ही अध्येताओं को अध्यात्म की ओर प्रेरित करना भी है। इस बात पर **श्री भट्टोजिदीक्षित जी** एवं उनके ग्रन्थों के व्याख्याताओं ने विशेष ध्यान दिया है। जैसे- **सुद्ध्युपास्यः, मद्ध्वरिः, धात्त्रंशः, लाकृतिः** इन उदाहरणों की जगह **मद्ध्वानय, दध्यानय, वद्ध्वानय, पित्रंशः** आदि लौकिक प्रयोग भी दे सकते थे। ऐसा न करके उपर्युक्त उदाहरण देने का रहस्य यह है कि अध्येतागण शब्दज्ञान के साथ **उपास्य** का ज्ञान भी कर लें, **इतिहास** आदि से भी परिचित हो लें और **तत्तत् पौराणिक** और **उपनिषत्** की घटनाओं को समझने, जानने के लिए उत्प्रेरित हो जायें। जैसे- **सुधीभिः उपास्यः** (विद्वानों के द्वारा उपासना करने योग्य)। यहाँ पर एक तो **सुधी** को किसी **ब्रह्म** की उपासना अवश्य करनी चाहिए, यह एक प्रेरणा है तो दूसरा विद्वानों के द्वारा **उपास्य** कौन है? इसकी **जिज्ञासा** भी। इस जिज्ञासा की पूर्ति करता है **मद्ध्वरिः**। मधु नामक दैत्य के शत्रु **भगवान विष्णु** अर्थात् विद्वानों के द्वारा **भगवान् विष्णु उपास्य** हैं। अब वे कैसे हैं? इस जिज्ञासा में उत्तर आया- **धात्त्रंशः**। वह **धातुः अंशः**, ब्रह्मा का अंश बन कर अर्थात् **ब्रह्मा** के शरीर से **वराह** आदि बनकर अथवा **धाता** की सृष्टि में **राम, कृष्ण** आदि बनकर **अवतार** लेता है। इस लिए वह **धात्त्रंश** है। उसे प्राप्त करना क्या सरल है? नहीं। वह तो लृ की तरह टेढ़ी आकृति वाला अर्थात् कठिन तपस्या एवं साधना से ही प्राप्त हो सकता है।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित शब्दों का सन्धिविच्छेद करके सूत्र लगाकर प्रयोगों की सिद्धि करें।

१. नद्यत्र। २. यद्यपि। ३. प्रत्येकम्। ४. करोम्यहम्। ५. कौमुद्यायाति।
६. अस्त्यात्मा। ७. वद्ध्वागमनम्। ८. इत्याचरति। ९. गुर्वाज्ञा। १०. दद्ध्यत्र।
११. वंश्यायाति। १२. ह्ययम्। १३. अस्त्यनुरागः। १४. पित्राज्ञा। १५. खल्वत्र।
१६. अत्युत्तमः। १७. लाकारः। १८. इत्यपि। १९. पित्रधीनम्। २०. पत्यादेशः।

(ख) निम्नलिखित शब्दों की सूत्र लगा कर सन्धि करें।

१. जननी+आह। २. धातृ+आदेशः। ३. मधु+आनय। ४. शिशु+अङ्गः।
५. भर्तृ+आदेशः। ६. तनु+अङ्गः। ७. मनु+आदिः। ८. वधू+अलङ्कारः।
९. अभि+उदयः। १० कामिनी+उदयः। ११. पितृ+आज्ञा। १२. जननी+आगच्छति।
१३. हरी+आगच्छतः। १४. नदी+आवहति। १५. कान्ति+आभा।
१६. भानु+आभा। १७. गुरु+आस्था। १८. भ्रातृ+आशा। १९. दुहितृ+ईशः।
२०. गृहेषु+आसक्तः। २१. लृ+आकारः।

अयाद्यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२२. एचोऽयवायावः ६।१।७८॥

एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि।

....

(ग) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

१. किन्हीं दो विधिसूत्रों को अध्याय-पाद-संख्या सहित लिखिये।
२. राम+ईश्वरः, सर्व+मानवः, हरे+अत्र इन प्रयोगों में **इको यणचि** यह सूत्र क्यों नहीं लगता? बताइये।
३. परिभाषा सूत्र कौने कौन हैं और क्यों परिभाषा माने जाते हैं?
४. **स्थानेऽन्तरतमः** यह सूत्र न होता तो क्या हानि होती?
५. **धात्त्र् अंशः** में **झलां जश् झशि** यह सूत्र क्यों नहीं लगता।
६. जहाँ पर **इको यणचि** लगता हो ऐसे पाँच शब्द बताइये।

२२- **एचोऽयवायावः**। अय् च, अव् च, आय् च, आव् च, तेषाम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः, अयवायावः। एचः षष्ठ्यन्तम्, अयवायावः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से **अचि** इस पद की अनुवृत्ति आती है और **संहितायाम्** का अधिकार है।

एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश होते हैं अच् के परे होने पर।

यह अयादि आदेश विधान करने वाला विधिसूत्र है। **अच्** के परे रहने पर **एच्** के स्थान पर अर्थात् पूर्व में **एच्** अर्थात् **ए, ओ, ऐ, औ** में से कोई एक वर्ण हो और पर में **अच्** अर्थात् **अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ** में से कोई एक वर्ण हो तो यह सूत्र लगता है। इसकी शर्त है- **पूर्व में एच् और पर में अच् प्रत्याहार के वर्ण हों**। इसका कार्य है **अय्, अव्, आय्, आव्** ये आदेश करना। किसके स्थान पर? **एच्** के स्थान पर, **एच्** क्या है? प्रत्याहार और किसके परे होने पर? **अच्** के परे होने पर। अच् क्या है? यह भी प्रत्याहार ही है।

एचोऽयवायावः में भी **संहितायाम्** का अधिकार रहता है अर्थात् पूरे **सन्धिप्रकरण** में इसका अधिकार रहता ही है। अतः यह सूत्र भी सन्धि किये जाने वाले वर्णों की अत्यन्त समीपता में ही लगता है।

इको यणचि से आये हुए **अचि** इस पद को देखकर **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** की प्रवृत्ति **एचोऽयवायावः** में भी होती है। अतः सप्तम्यन्त पद **अचि** से अव्यवहित पूर्व के स्थान पर ही **अय्** आदि आदेश होते हैं।

लघुसिद्धान्तकौमुदी में **एचोऽयवायावः** के चार उदाहरण बताये गये हैं- **हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः**। हरे+ ए। विष्णो+ ए। नै+ अकः। पौ+अकः। इस स्थिति में पहले **संहितासंज्ञा** की जाती है और उसके बाद सूत्र लगता है- **एचोऽयवायावः**। हरे+ए में **इको यणचि** यह सूत्र नहीं लग सकता क्योंकि उसके अर्थ के अनुसार पूर्व में इक् और पर में अच् होना चाहिये। यहाँ पर **'हरे+ए'** में पर में अच् तो है किन्तु पूर्व में इक् नहीं है। अतः **इको यणचि** नहीं लग सकता। अब **एचोऽयवायावः को** घटाते हैं। सूत्र का अर्थ हैः- **एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश**

नियमविधायकं परिभाषासूत्रम्

२३. यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात्।

हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

....

हों, अच् परे रहने पर। यहाँ **हरे+ए** इस स्थिति में **एच्** है **हरे** का **रे** वाला **ए** और **अच् परे** है केवल **ए**। ऐसी स्थिति में इस सूत्र से **हरे** के **एकार** के स्थान पर **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चारों आदेश प्राप्त हो गये। स्थान एक है और आदेश चार प्राप्त हो गये। एक के स्थान पर चार-चार आदेशों की प्राप्ति होना एक अनियम हुआ तो नियमार्थ सूत्र की आवश्यकता पड़ी। अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्र को परिभाषा सूत्र कहते हैं। जिस प्रकार से **इको यणचि** के प्रसंग में **स्थानेऽन्तरतमः** यह परिभाषा सूत्र लगता है, उसी प्रकार **एचोऽयवायावः** के प्रसंग में परिभाषा सूत्र लगता है- **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्।** उक्त स्थलों पर **स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण** का विषय न होने के कारण **स्थानेऽन्तरतमः** की प्रवृत्ति नहीं होती है।

२३- यथासंख्यमनुदेशः समानाम्। सङ्ख्याम् अनतिक्रम्य यथासंख्यं, यथासङ्ख्यं प्रथमान्तम्, अनुदेशः प्रथमान्तं, समानां षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

बराबर संख्या वाली विधि क्रम से होती है।

यह परिभाषासूत्र है। अनियम होने पर नियम करने वाले सूत्रों को परिभाषा सूत्र कहते हैं। **स्थानी** और **आदेश** या **स्थानी** और **निमित्त** अथवा **आदेश** और **निमित्त** ये भी बराबर संख्या में हो तो वहाँ पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य है कि **स्थानी** और **आदेश** आदि की संख्या **समान** हों तो **स्थानियों** को एक जगह क्रम से रखा जाय और उन्हें क्रमशः **प्रथम, द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** के रूप में माना जाय तथा आदेश आदि को भी एक जगह क्रमशः रखकर उन्हें भी क्रमशः **प्रथम, द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** के रूप में माना जाय। अब **स्थानियों** में जो **प्रथम** हो उसके स्थान पर **आदेशों** में जो प्रथम हो वह आदेश हो जाय। इसी प्रकार **स्थानियों** में **द्वितीय** के स्थान पर **द्वितीय आदेश** हो जाय, **तृतीय स्थानी** के स्थान पर **तृतीय आदेश** और **चतुर्थ स्थानी** के स्थान पर **चतुर्थ आदेश** हो जाय। **ए, ओ, ऐ, औ** इन स्थानियों में से **ए** यह **प्रथम स्थानी** है, **ओ** यह **द्वितीय** है, **ऐ** यह **तृतीय** है और **औ** यह **चतुर्थ** है। इसी प्रकार आदेशों में **अय्** यह **प्रथम** है, **अव्** यह **द्वितीय** एवं **आय्** यह **तृतीय** है और **आय्** यह **चतुर्थ** आदेश है। इस प्रकार से स्थानी **ए** के स्थान पर आदेश **अय्**, स्थानी **ओ** के स्थान पर आदेश **अव्**, स्थानी **ऐ** के स्थान पर आदेश **आय्** और स्थानी **औ** के आदेश **आव्** आदेश होंगे।

इस प्रकार से **हरे+ए** में स्थानी **ए** है और वह **पहला** है, अतः **आदेश** में पहला **अय्** आदेश हो जायेगा। **एकार** को हटाकर **अय्** आदेश बैठेगा तो **हर् अय् ए** हो जायेगा। अच् से हीन वर्ण अकेले नहीं बैठते, उन्हें सहारे की जरूरत पड़ती है। वे अपने से पर वर्ण से मिलकर बैठते हैं। **हर्** वाला **र्** अगले वर्ण **अय्** वाले **अकार** से मिला तो **र्+अ=र** बना और **अय्** वाला **य्** अगले वर्ण **ए** से मिलेगा तो **य्+ए=ये** बना। इस प्रकार से सारे मिलकर बना- **हरये।**

साधने की संक्षिप्त विधिः-

हरये। हरि के लिए। **हरे+ए** इस स्थिति में पहले संहितासंज्ञा हो गई और सूत्र लगा **एचोऽयवायावः**। सूत्र का अर्थ है- **एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश हों अच् परे रहने पर**। **एच्** है **हरे** का **एकार** और अच् परे है **ए**, तो **हरे** के **एकार** के स्थान पर **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चारों आदेश प्राप्त हो गये। एक के स्थान पर चार-चार प्राप्त हुए तो अनियम हुआ और नियमार्थ परिभाषासूत्र लगा- **''यथासंख्यमनुदेशः समानाम्''** सम संख्या की विधि क्रम से होती है। यहाँ पर समसंख्या है स्थानियों में **ए, ओ, ऐ, औ** ये चार और आदेशों में **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चार हैं। जब क्रम से होंगे तो स्थानियों में **पहले** के स्थान पर **पहला** आदेश, **दूसरे** के स्थान पर **दूसरा** आदेश, **तृतीय** के स्थान पर **तृतीय** आदेश और **चतुर्थ** के स्थान पर **चतुर्थ** आदेश होंगे। यहाँ पर स्थानी में प्रथम **हरे** के **एकार** के स्थान पर आदेश में प्रथम **अय्** आदेश हुआ। इस प्रकार **हर्+अय्+ए** बना और वर्णसम्मेलन हुआ तो **हरये** सिद्ध हुआ।

विष्णवे। विष्णु के लिए। **विष्णो+ए** में पहले संहितासंज्ञा हो गई और सूत्र लगा **एचोऽयवायावः**। सूत्र का अर्थ है- **एच् के स्थान पर अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश हों अच् परे रहने पर**। **एच्** है **विष्णो** का **ओकार** और अच् परे है **ओ**, तो **विष्णो** के **ओकार** के स्थान पर **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चारों आदेश प्राप्त हो गये। एक के स्थान पर चार-चार प्राप्त हुए तो अनियम हुआ और नियमार्थ परिभाषासूत्र लगा- **''यथासंख्यमनुदेशः समानाम्''** सम संख्या की विधि क्रम से होती है। यहाँ पर समसंख्या है स्थानियों में ए, **ओ, ऐ, औ** ये चार और आदेशों में **अय्, अव्, आय्, आव्** ये चार हैं। जब क्रम से होंगे तो स्थानियों में **पहले** के स्थान पर **पहला** आदेश, **दूसरे** के स्थान पर **दूसरा** आदेश, **तृतीय** के स्थान पर **तृतीय** आदेश और **चतुर्थ** के स्थान पर **चतुर्थ** आदेश होंगे। यहाँ पर स्थानी में द्वितीय **विष्णो** के **ओकार** के स्थान पर आदेश में द्वितीय **अव्** आदेश हुआ। इस प्रकार **विष्ण्+अव्+ओ** बना और वर्णसम्मेलन हुआ तो **विष्णवे** सिद्ध हुआ।

नायकः। नायक, नेता। **नै+अकः** इस स्थिति में पूर्व में **एच्** है **नै** का **ऐकार** और पर में अच् है **अकः** का **अकार**। अतः **एचोऽयवायावः** से **अय्, अव्, आय्, आव्**, ये चारों आदेश प्राप्त हुए तो **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से स्थानी में तीसरे **नै** के **ऐकार** के स्थान पर आदेश में तीसरा **आय्** आदेश हुआ- **न्+आय्+अकः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **नायकः** सिद्ध हुआ।

पावकः। पवित्र करने वाला, अग्नि। **पौ+अकः** इस स्थिति में पूर्व में **एच्** है **पौ** का **औकार** और पर में अच् है **अकः** का **अकार**। अतः **एचोऽयवायावः** से **अय्, अव्, आय्, आव्**, ये चारों आदेश प्राप्त हुए तो **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से स्थानी में चौथे **पौ** के **औकार** के स्थान पर आदेश में चौथा **आय्** आदेश हुआ- **प्+आव्+अकः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **पावकः** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार आप **सिद्धे+ए=सिद्धये, गुरो+अः=गुरवः, विद्यायै+आगमनम्=विद्यायागमनम्** और **रामौ+आगच्छतः=रामावागच्छतः** जैसे रूप भी आप बनाने का प्रयत्न करें।

हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः। हरि और विष्णु शब्दों की चतुर्थी में **हरये** और **विष्णवे** ये रूप बनते हैं। **नमः** आदि पदों के योग में चतुर्थी की सम्भावना होती है। **हरये नमः, विष्णवे नमः**। हरि और विष्णु को प्रणाम है। हमारे द्वारा प्रणम्य हरि का क्या

अवावादेशविधायकं विधिसूत्रम्

२४. वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव्आव् एतौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्।
वार्तिकम्- **अध्वपरिमाणे च।** गव्यूतिः।

....

स्वरूप है? **नायकः**। वह सब को अपनी ओर ले जाता है, मुक्ति देता है और स्वयं में **पावकः** अर्थात् पवित्र है और अग्नि की तरह सवको पवित्र करने की क्षमता रखता है। उसमें समाहित हो जाने पर या उसकी शरणागति कर लेने पर मनुष्यों के जन्म-जन्मान्तरों के कर्म स्वाहा हो जाते हैं।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित शब्दों में सन्धि कीजिए-

करौ+एतौ। नरौ+उदारौ। गै+अति। मनो+ए। रै+अकः। वागर्थौ+इव। नौ+इकः। भो+अति। शे+अयनम्। पो+अनः। कवे+ए। गोपालौ+आयातः। प्रजापतये+इदम्। बालौ+अत्र। चोरे+अति। इन्दौ+उदिते। तौ+एकदा।

(ख) निम्नलिखित शब्दों की सन्धिविच्छेद कर पुनः सूत्र लगाकर सन्धि कीजिए-

गुरवे। विष्णवे। चायकः। अग्वाविह। चयः। जयः। नाविकः। प्रस्तावकः। कवये। पूजार्हावरिसूदनः। बालावोजस्विनौ। तस्मायेतत्।

२४- **वान्तो यि प्रत्यये।** व् अन्तं अस्ति यस्य स वान्तः, वान्तः प्रथमान्तं, यि सप्तम्यन्तं, प्रत्यये सप्तम्यन्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्।

यकार आदि में हो ऐसे प्रत्यय के परे होने पर ओ और औ के स्थान पर अव् और आव् आदेश हों।

यह सूत्र **एचोऽयवायावः** का समानान्तर सूत्र है। यह केवल **अव्** और **आव्** आदेश करता हैं और वह **अय्, अव्, आय्, आव्** आदेश करता है। वह **अच्** के परे रहने पर ही कार्य करता है तो यह **य्** आदि में हो ऐसे **प्रत्यय** के परे रहने पर ही लगता है। वह अच् प्रत्याहार के परे रहने की अपेक्षा रखता है और यह प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। **एचोऽयवायावः** ये परस्पर बाध्य-बाध्यक सूत्र नहीं हैं अर्थात् **एचोऽयवायावः** सूत्र का बाधक यह सूत्र नहीं होता क्योंकि बाध्यबाधकभाव वहाँ होता है जहाँ दोनों सूत्रों की प्रवृत्ति में निमित्त एक जैसे हों। ये दोनों भिन्न-भिन्न निमित्त को मानकर के कार्य करते हैं। अतः ये दोनों समानान्तर सूत्र हैं। अष्टाध्यायी के क्रम में **एचोऽयवायावः** के बाद **वान्तो यि प्रत्यये** यह सूत्र आता है। अतः इस सूत्र में **'वान्त'** शब्द से **एचोऽयवायावः** में पठित द्वितीय एवं चतुर्थ वकारान्त **अव्** एवं **आव्** आदेश ही लिए गये।

इस सूत्र में भी **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की आवश्यकता पड़ती है। इससे स्थानी में प्रथम **ओ** के स्थान पर आदेश में प्रथम **अव्** और स्थानी में द्वितीय **औ** के स्थान पर आदेश में द्वितीय **आव्** आदेश हो जाता है।

इस सूत्र के उदाहरण हैं- **गव्यम्, नाव्यम्।** इनकी स्थिति है- **गो+यम् गव्यम्। नौ**+**यम् नाव्यम्।** यहाँ पर **गो** और **नौ** ये दोनों क्रमशः **ओकारान्त** और **औकारान्त** शब्द हैं। **यम्** यह तद्धित-प्रकरण का प्रत्यय है। **यम्** में **य्+अ+म्=यम्** ये

गुणसंज्ञाविधायकं सञ्ज्ञासूत्रम्

२५. अदेङ् गुणः।१।१।२।।

अत् एङ् च गुणसञ्ज्ञः स्यात्।

नियमसूत्रम्

२६. तपरस्तत्कालस्य १।१।७०।।

तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात्।

....

तीन अक्षर हैं और आदि अर्थात् पहला अक्षर **य्** अर्थात् **यकार** है। अतः **यम्** यकारादि प्रत्यय हुआ। इस सूत्र में स्थानी भी दो हैं और आदेश भी दो हैं। स्थानी हैं- **ओ** और **औ** तथा आदेश हैं- **अव्** और **आव्**। यहाँ पर भी समसम्बन्धी विधि है, क्योंकि स्थानी भी दो हैं और आदेश भी दो हैं। जब जब भी स्थानी, आदेश आदि समान संख्या में हों- वहाँ पर **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** सूत्र के बल पर क्रमशः विधान होता है अर्थात् जिस क्रम से स्थानी उच्चारित हों उसी क्रम से आदेश भी होंगे।

अब यहाँ **ओ** और **औ** इन दोनों स्थानियों में **ओ पहला** है और **औ दूसरा** है। इसी प्रकार **अव्** एवं **आव्** आदेशों में **अव् पहला** है और **आव् दूसरा** है। पूर्वोक्त नियम के अनुसार स्थानी में पहले **ओ** के स्थान पर आदेश में पहला **अव्** आदेश और स्थानी में दूसरे **औ** के स्थान पर आदेश में दूसरा **आव्** आदेश होंगे।

गव्यम्। गाय का विकार दूध, दही, घी, गोमूत्र, गोबर। **गो+यम्** यह स्थिति है। **गो के ओकार** के स्थान पर **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की सहायता से **वान्तो यि प्रत्यये** से **अव्** आदेश होने पर **ग्+अव्+यम्** हुआ। वर्णसम्मेलन होकर **गव्यम्** सिद्ध हुआ। इसी प्रकार **नौ+यम्** में **आव्** आदेश होकर **न्+आव्+यम्** और वर्णसम्मेलन- होकर **नाव्यम्** सिद्ध हुआ।

गव्यम्। नाव्यम्। गो शब्द से विकार अर्थ में यत् प्रत्यय होकर **गव्यम्** और नौ शब्द से तारने योग्य अर्थ में यत् प्रत्यय होकर **नाव्यम्** बना है। गौ का विकार दूध, दही, घी, गोमूत्र, गोबर आदि गव्य कहलाता है और वह गौ का विकार होते हुए भी **पावकः** है अर्थात् अतिपवित्र है। उसे बेकार फेंकना नहीं चाहिए अपितु नदी आदि में नौका आदि के द्वारा गोबर आदि तार्य अर्थात् खेत आदि में पहुँचाना चाहिए। दूर-दूर तक इस **गव्य** का वितरण होना चाहिए जिससे प्राणियों का भी पोषण होगा और खेत में उर्वरकता भी बढ़ेगी।

२५- अदेङ् गुणः। अत् च एङ् च अदेङ्, अदेङ् प्रथमान्तं, गुणः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

ह्रस्व अकार और एङ् ये गुणसंज्ञक होते हैं।

अर्थात् **अ, ए, ओ** इन वर्णों की गुणसंज्ञा होती है।

२६- तपरस्तत्कालस्य। तात्परः तपरः, तः परो यस्माद् वा तपरः, पञ्चमीतत्पुरुष और बहुव्रीहिः। इस तरह दोनों समास यहाँ पर माने गये हैं। तस्य कालस्तत्कालः(तस्य काल इव कालो यस्य स तत्कालः) षष्ठीतत्पुरुषगर्भो बहुव्रीहिः। तस्य तत्कालस्य। तपरः प्रथमान्तं, तत्कालस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

तकार पर है जिससे वह और तकार से परे जो है वह भी (अण्) समकाल का ही बोधक होता है।

अर्थात् एक मात्रिक के साथ तपर है तो एक मात्रा का ही बोध और द्विमात्रिक के साथ तपर किया गया है तो द्विमात्रिक का ही बोध होना चाहिए। यह सूत्र **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** का बाधक है।

सूत्र में पठित **तपरः** शब्द का अर्थ समझना जरूरी है। **तः** और **परः** में समास होकर **तपरः** बना है। इसमें तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास के बल पर दो अर्थ हो सकते हैं- पहला- **तकार से परे** और दूसरा **तकार जिससे परे है, वह वर्ण**। जैसा कि इसी सूत्र में ही देखा जाय- **अत् एङ्**। यहाँ पर **अत्** का **तकार** है। पहले अर्थ के अनुसार **तकार से परे एङ्** है और दूसरे अर्थ के अनुसार **तकार जिससे परे है वह वर्ण है अकार**। अब **तपरः** अर्थ समझने के बाद इस सूत्र के कार्य को समझें। जिस अच् वर्ण के साथ "**त्**" लगाकर उच्चारण किया जाता है उस वर्ण से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। जैसे सवर्णसंज्ञा के हो जाने से **अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के द्वारा '**अ**' से उसके सभी भेद **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक** आदि अठारह ही प्रकार का **अकार** लिया जाता है, वैसे **तपरग्रहण** के बाद नहीं लिया जायेगा क्योंकि ह्रस्व अवर्ण के साथ **तपर** उच्चारण है। जैसे '**अत्**' इससे ह्रस्व अवर्ण ही गृहीत होगा, दीर्घ **आवर्ण** नहीं। '**आत्**' इस तपर **आवर्ण** से **आकार** का ही बोध होता है, **अवर्ण** का नहीं क्योंकि **आ** यह अण् नहीं है, अतः **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** के अनुसार **आ** यह वर्ण **अ** का ग्रहण नहीं कर रहा क्योंकि अण् या उदित् ही अपने सवर्णियों के ग्राहक होते हैं। **तपरकरण** अर्थात् '**त्**' को पर रख कर उच्चारण किये जाने वाले वर्ण से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता है। अतः **अदेङ्** में **अत्** से **ह्रस्व अकार** का ही ग्रहण होगा और तकार से परे **एङ्** से **दीर्घ एकार, ओकार** का ही ग्रहण होता है। यह तपर-ग्रहण केवल **ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत** मात्राओं के लिए नियम करता है। **उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, अननुनासिक** के सम्बन्ध में यह नियम नहीं लगता, क्योंकि तपर-ग्रहण का नियम बनाने वाला **तपरस्तत्कालस्य** यह सूत्र "**तत्काल**" अर्थात् केवल काल के विषय को लेकर ही कथन करता है। काल तो एकमात्रिक उच्चारण काल, द्विमात्रिक उच्चारण काल एवं त्रिमात्रिक उच्चारण काल, अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, से सम्बन्धित है, उदात्त, अनुदात्त आदि से नहीं, क्योंकि उदात्त आदि के भेद होने पर उच्चारण के समय में भिन्नता नहीं होती है।

अब यह स्पष्ट हो गया है कि सर्वत्र वर्ण अपने सवर्णों के ग्राहक होते हैं किन्तु **तपर** ग्रहण होने पर सवर्ण का ग्रहण नहीं किया जाएगा। **अदेङ् गुणः** इस सूत्र में "**अत्**" पढ़ा गया है, इससे केवल "**अ**" का ही ग्रहण होगा। अतः ह्रस्व **अ, एङ्**, प्रत्याहार अर्थात् **ए, ओ** की गुणसंज्ञा इस सूत्र से की जाती है। **गुण** एक संज्ञा है, **संज्ञा से संज्ञी** का बोध होता है। संज्ञी हुए **अ, ए, ओ**। अब व्याकरण में जहाँ भी "**गुण**" शब्द का उच्चारण होगा, उससे '**अ, ए, ओ**' का ही बोध किया जायेगा अर्थात् **गुण** के विधान से **अ, ए, ओ** का विधान समझा जायेगा।

गुणविधायकं विधिसूत्रम्

२७. आद्गुणः ६।१।८७॥

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्।
उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

....

२७- आद्गुणः। आत् पञ्चम्यन्तं, गुणः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है और तथा **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर गुणसंज्ञक एक आदेश होता है।

अवर्ण से अच् प्रत्याहार के वर्ण परे हों तो पूर्व और पर के दोनों वर्ण (पूर्व का अन्त वर्ण और पर का आदि वर्ण) के स्थान पर गुण अर्थात् **'अ, ए, ओ'** इन तीन वर्णों में से एक वर्ण आदेश के रूप में हो जाय। इस सूत्र में **आत् (आद्)** यह तपरग्रहण नहीं है किन्तु **आत्** यह रूप **अ** शब्द के पञ्चमी का एकवचन है। जैसे- रामात् रामाद्। अतः **''आत्''** से केवल **'आ'** का ही बोध नहीं होगा, अपितु **अ** के सारे अठारहों भेद के साथ अवर्ण उपस्थित होगा। पूर्व में **अ, आ** और पर में अच्प्रत्याहार एवं उसके सारे भेद वाले वर्ण हों तो इन दोनों वर्णो के स्थान पर (इनको हटाकर) **'अ, ए, ओ'** में से एक वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त होगा।

इस सूत्र का कार्य है गुण-आदेश करना तथा इसका कार्यक्षेत्र है- पूर्व में **अ, आ**, और पर में **अच्** प्रत्याहार अर्थात् **अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।** यह सूत्र किसी का **समानान्तर** नहीं है। जहाँ यह सूत्र लगता है वहाँ **इको यणचि, एचो यवायावः** और **वान्तो यि प्रत्यये** इन सूत्रों की प्रवृत्ति ही नहीं है। इसलिए इन सूत्रों का **आद्गुणः** यह सूत्र बाधक भी नहीं है। अवर्ण से अवर्ण ही परे हो तो **''अकः सवर्णे दीर्घः''** यह सूत्र इस सूत्र का बाधक हो जाता है और **अवर्ण** से **'ए, ओ, ऐ, औ'** के परे रहने पर **''वृद्धिरेचि''** से यह सूत्र बाधित हो जाता है। फलतः **अवर्ण** से **इकार, उकार, ऋकार** तथा **ऌकार** के परे रहने पर ही गुण हो पाता है।

इस सूत्र के लगने के बाद एक अनियम की स्थिति यह बनती है कि पूर्व और पर में दो ही वर्ण होते हैं और दोनों वर्णो के स्थान पर एक वर्ण आदेश के रूप में होना चाहिए किन्तु **'अ, ए, ओ'** इन तीनों वर्णो की प्राप्ति हो रही है। इस अनियम को दूर करने के लिए **''स्थानेऽन्तरतमः''** इस परिभाषासूत्र की आवश्यकता होती है। इसके द्वारा स्थान साम्यता अर्थात् स्थानी और आदेश में स्थान को लेकर तुल्यता देखी जाती है। स्थान से तुल्यता होने पर वही वर्ण आदेश के रूप में हो जाता है जो दोनों का एक ही स्थान हो। जैसे- **उपेन्द्रः। 'उप+इन्द्रः'** में **''आद्गुणः''** लगा। **अवर्ण** है **उप** में **प्** के बाद वाला **अ** और अच् परे है **इन्द्रः** में आदि **इवर्ण।** पूर्व में **अ** है और पर में **इ** है। इन दोनों के स्थान पर गुण शब्द के द्वारा गृहीत होने वाले **अ, ए, ओ** ये तीनों वर्ण उपस्थित हो गये। **अ** और **इ** इन दोनों के स्थान पर सूत्र के अनुसार एक ही आदेश **अ, ए, ओ** में से किसी एक ही वर्ण हो जाना चाहिए, किन्तु तीनों में से कौन सा वर्ण आदेश के रूप में हो? यह निश्चित नहीं हो पाया। दो के स्थान पर तीन-तीन वर्णों की प्राप्ति होना अनियम हुआ तो नियम करने के लिए सूत्र लगा **स्थानेऽन्तरतमः।** प्रसङ्ग रहने पर स्थान, अर्थ, गुण, प्रमाण से तुल्यतम

आदेश होता है। प्रसंग है दो वर्णों के स्थान पर तीन वर्णों की प्राप्ति और तीन में से ए
आदेश होना है। स्थान से तुल्यता मिलाने पर **अ** का **कण्ठस्थान** और **इ** का **तालुस्था**
दोनों का मिलाकर **कण्ठतालु** स्थान हुआ अर्थात् स्थानी **कण्ठतालु** स्थान वाले हैं। अ
खोजा जाय कि **'अ, ए, ओ'** इन आदेशों में कण्ठतालु स्थान वाला वर्ण कौन है? **''एदैत**
कण्ठतालु'' ए, और ऐ का कण्ठतालु स्थान है। अतः **'अ, ए, ओ'** में **'ए'** वर्ण कण्ठत
स्थान वाला है और आदेश में **कण्ठतालु** स्थान वाला **'ए'** है। फलतः **कण्ठतालु** स्थ
वाले स्थानी **अ** एवं **इ** इनके स्थान पर **कण्ठतालु** स्थान वाला ही **ए** आदेश हो ग
उप+इन्द्रः था। **उप** के **अकार** एवं **इन्द्रः** के **इकार** के स्थान पर **ए** हो गया। इस त
उप्+ए+न्द्रः बना। वर्ण सम्मेलन होने पर **प्** जाकर **ए** से मिला- **उपेन्द्रः** सिद्ध हुआ। उपे
का अर्थ= **वामन** आदि रूप धारण करने वाले **भगवान् विष्णु**।

गङ्गोदकम्। गंगा का जल। **गङ्गा+उदकम्** यह स्थिति है। **गङ्गा** में **अवर्ण** है
और **अच्** परे है **उदकम्** का **उकार**। यहाँ पर **पूर्व** में है **आ** और **पर** में है **उ**। इस त
आ एवं **उ** इन दोनों वर्णों के स्थान पर गुणसंज्ञक **अ, ए, ओ** ये तीनों प्राप्त हुए
स्थानेऽन्तरतमः इस सूत्र के सहयोग से **ओकार** एक आदेश हुआ क्योंकि स्थान से **तुल्**
मिलाने पर **आकार** का **कण्ठस्थान** और **उकार** का **ओष्ठस्थान** है अर्थात् **स्थानी**
स्थान है- **कण्ठ-ओष्ठ**। आदेश में **कण्ठ-ओष्ठ** स्थान वाला गुणसंज्ञकवर्ण है **ओ**। अ
कण्ठ-ओष्ठ स्थान वाले **अकार** एवं **उकार** के स्थान पर **कण्ठ-ओष्ठ** स्थान वाला **गुणसं**
वर्ण **ओकार** ही एक आदेश के रूप में हो गया- **गङ्ग्+ओ+दकम्** बना। वर्णसम्मेलन होने
क्रमशः **ङ्ग्** जाकर **ओकार** में मिले तो **गङ्गोदकम्** बना। इसी तरह **देव+इन्द्रः=देवे**
महा+ईशः=महेशः, **यमुना+उदकम्=यमुनोदकम्** आदि बनाने का प्रयत्न करें।

उपेन्द्रः। गङ्गोदकम् इन प्रयोगों की संगति **वान्तो यि प्रत्यये** के उदाहरण **नाव**
(नौका के द्वारा तारने योग्य) से इस तरह जुड़ सकता है कि हम सब उस **उपेन्द्र** अ
भगवान विष्णु के द्वारा इस भवसागर से पार ले जाने योग्य हैं, अर्थात् भवसागर से पार
के लिए विष्णु की उपासना करनी चाहिए। वह इतना सरल है कि इन्द्र का छोटा अ
होकर भी जन्म ग्रहण करता है और गङ्गा का जल भी उसी के चरणों से प्रवाहित हो
आता है, जो सबको पवित्र करता है।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
महा+उत्सवः। हित+उपदेशः। सूर्य+उदयः। गण+उत्तमः। तथा+इति। यथा+इच
यज्ञ+उपवीतम्। दया+उदयः। उमा+ईशः। गज+इन्द्रः। महा+ऊर्मिः।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिविच्छेद पूर्वक सूत्र लगाकर सन्धि करें:-
भारतेतिहासः। स्वच्छोदकम्। उमेशः। तवोत्साहः। निम्नोर्ध्वम्। नोपलब्धिः। महे
उष्णोदकम्। तवेह। गणेशः। परमेश्वरः। गुणोपेतम्। रामेति। चेति। परमोत्कृ

(ग) **आद्गुणः** की वृत्ति में **अचि** यह पद किस सूत्र से अनुवृत्त हुआ?

(घ) **आद्गुणः** में कितने पद हैं और कौन-कौन सी उसमें विभक्तियाँ लगी है

(ङ) तपरकरण करने से क्या होता है?

(च) किस अवस्था में यह सूत्र **अकः सवर्णे दीर्घः** को बाधता है?

(छ) इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को क्या कहते हैं?

इत्संज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

२८. उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२।।

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा।

....

२८- **उपदेशेऽजनुनासिक इत्**। उपदेशे सप्तम्यन्तम्, अच् प्रथमान्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तम्, इत् प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

उपदेश अवस्था में अनुनासिक अच् इत्संज्ञक होता है।

हलन्त्यम् सूत्र **अन्त्य में स्थित हल्** की **इत्संज्ञा** करता है और यह सूत्र **अच्** की इत्संज्ञा करता है, वह **अच्** चाहे **आदि में हो** या **अन्त में**। इस तरह **हलन्त्यम्** औंर **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** इन सूत्रों की तुलना की जाती है।

प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। यह वाक्य कौमुदीकार का है अर्थात् सूत्र या वार्तिक नहीं है। वे कहते हैं कि **पाणिनि के अनुनासिक वर्ण उनके व्यवहार से पहचाने जाते हैं।**

उपदेशेऽजनुनासिक इत् यह सूत्र **अनुनासिक अच्** की अपेक्षा करता है। **अनुनासिक** कहीं तो स्पष्ट परिलक्षित होते हैं और कहीं उनको अनुनासिक मान लिया जाता है। हलों में **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ये सदा **अनुनासिक** हैं और **य्, व्, ल्** ये एक पक्ष में **अनुनासिक** और एक पक्ष में **अननुनासिक** हैं। शेष हल् वर्ण अनुनासिक होते ही नहीं किन्तु **अच्** सारे के सारे **अनुनासिक** भी हैं और **अननुनासिक** भी, जैसा कि **सञ्ज्ञाप्रकरण** में स्पष्ट किया गया। अचों में अनुनासिक के लिए कोई चिह्न भी नहीं होता तथा अनुनासिक की तरह अर्थात् **मुख सहित नासिका** से उच्चारण भी नहीं होता है। ऐसे में प्रारम्भिक छात्र या अध्येता को अनुनासिक के रूप में निर्णय करने में जरूर परेशानी होती है किन्तु बाद में यह बात समझ में आ जाती है कि इस **अच्** को पाणिनि जी ने **अनुनासिक** माना है या नहीं। जैसे **भू सत्तायाम्** धातु में **भू** में **ऊ** की इत्संज्ञा इसलिए नहीं हुई कि यहाँ **पाणिनि** जी ने इसमें अनुनासिक व्यवहार नहीं किया है और **एध वृद्धौ** इस धातु में **अनुनासिक** का स्पष्ट निर्देश न होते हुए भी **पाणिनि जी** के व्यवहार से **अनुनासिक** मानकर धकारोत्तरवर्ती **अकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हो जाती है। अतः मूल में कहा गया- **प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः**। अर्थात् पाणिनीय व्याकरण में अनुनासिक को पाणिनि के व्यवहार को देखते हुए जाना जाता है। इसका निर्णय पढ़ते-पढ़ते छात्र अनुभव के आधार पर कर लेता है।

लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा। आपको याद होगा कि संज्ञाप्रकरण के प्रारम्भ में **लणमध्ये त्वित्संज्ञकः** कहा गया था। उसका तात्पर्य यह है कि **लण् में लकारोत्तरवर्ती अकार की इत्संज्ञा करके र प्रत्याहार बनाया जाता है।** इसी बात को यहाँ पर स्पष्ट किया है कि **लण् सूत्र में पठित अकार के साथ उच्चारित रेफ जो है वह र् और ल् इन दोनों वर्णों का बोध कराता है।**

ऋ एवं **ऌ** वर्णों के स्थान पर यदि कोई **अण्** अर्थात् **अ इ उ** इन वर्णों में से कोई वर्ण आदेश के रूप में उपस्थित होता है तो वह आदेश **र्** और **ल्** वर्ण को साथ में

रपरविधायकं विधिसूत्रम्

२९. उरण् रपरः १।१।५१॥

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्।

तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

....

लेकर उपस्थित हो, यह विधान करता है। ''र'' एक प्रत्याहार है, जिसकी सिद्धि प्रदर्शित है।

रप्रत्याहार की सिद्धिः- र-प्रत्याहार की सिद्धि में स्थिति है **हयवरट्** के **र्** से **लण्** का मध्यवर्ती **अ** अर्थात् **र्-अ,** ऐसी स्थिति में लकारोत्तरवर्ती **अकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हो जाती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप प्राप्त होता है किन्तु उससे पहल सूत्र लगा- **आदिरन्त्येन सहेता।** अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ पठित आदि वर्ण है **र्**, क्योंकि अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण है **अ।** उसके साथ में पठित आदि वर्ण हुआ- **र्**, वह मध्यवर्ती वर्णों का वोध कराता हुआ अपना भी बोधक होता है। **र्** और **अ** के बीच में मध्यवर्ती वर्ण है **ल्।** इस तरह र्+अ=र कहने से मध्यवर्ती वर्ण **ल्** सहित आदि वर्ण **र्** अर्थात् **र्** और **ल्** का बोध हुआ। उसके वाद इत्संज्ञक अकार का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। इस तरह से **र** प्रत्याहार की सिद्धि हुई अर्थात् **र** को प्रत्याहार के रूप में मानने पर **र्, ल्** इन दोनों वर्णों को लिया जायेगा। **र** को **पर** में लेना अर्थात् **र्, ल्** के अपने साथ पर में ग्रहण करना। आगे जहाँ भी **रपर** होगा, उससे यही समझा जायेगा कि **रेफ** और **लकार** को पर में लेना है। वैसे **रपर** का विधान करने वाला एक ही सूत्र **उरण् रपरः** ही है।

२९- उरण् रपरः। रः परो यस्य स रपरः। उः षष्ठ्यन्तम् , अण् प्रथमान्तं, रपरः प्रथमांन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। ऋकार से तीस प्रकार ऋ का बोध होता है, ऐसा संज्ञाप्रकरण में कहा जा चुका है।

उस तीस प्रकार के ऋकार के स्थान पर प्राप्त अण् रपर होकर अर्थात् र् और ल् को पर में लेकर ही प्रवृत्त होता है।

ऋ और लृ वर्णों के स्थान पर यदि **अण्** प्रत्यहार वाला वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त हो जाय तो वह **अण् रूप आदेश** साथ में **र्** या **ल्** को साथ में (पर में) लेकर ही कहीं प्रवृत्त होगा। **अ** प्राप्त हुआ तो **अर्, अल्** तथा **इ** प्राप्त हुआ तो **इर्, इल्,** इसी तरह **उ** प्राप्त हुआ तो **उर्, उल्** बनेंगे। इसी तरह सर्वत्र समझना चाहिए। गुणविधि में यदि स्थानी **ऋ** है तो आदेश **अर्** होगा, क्योंकि **ऋकार** का **रेफ** के साथ **स्थान से साम्यता** है। इसी तरह **लृकार** के स्थान पर अकार के प्राप्त होने पर **अल्** होगा, क्योंकि वहाँ पर भी **लृ** का **अल्** के साथ स्थान साम्यता है। जैसे- **कृष्ण+ऋद्धिः=कृष्णर्द्धिः। तव+लृकारः=तवल्कारः।**

कृष्णर्द्धिः। कृष्ण की समृद्धि। **कृष्ण+ऋद्धिः** ऐसी स्थिति में **परः सन्निकर्षः संहिता** से **संहितासंज्ञा** होने के बाद सूत्र लगा- **आद्गुणः।** अवर्ण से अच् परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर गुणसंज्ञक एक आदेश होता है। **अवर्ण** है **कृष्ण** में **ण्** के वाद वाला **अकार** और **अच् परे** है- **ऋद्धिः** में आदि वर्ण **ऋकार।** यहाँ पर **पूर्व** में है **अ** और **पर** में है **ऋ।** अव इन दोनों के स्थान पर **गुण** अर्थात् **अ, ए, ओ** ये तीनों आदेश प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थानी और आदेश में **स्थान** को माध्यम बना कर तुल्यता

की जाती है। **अकार** का **कण्ठस्थान** व **ऋकार** का **मूर्धास्थान** है। **कण्ठमूर्धास्थान** वाला वर्ण गुणसंज्ञक **अ, ए, ओ** में नहीं है किन्तु केवल **कण्ठस्थान** वाला वर्ण **अ** मिलता है तो यत्किञ्चित् तुल्यता लेकर आदेश के रूप में **अ** इस गुणसंज्ञक वर्ण की प्राप्ति हुई। उस अवस्था में **उरण् रपरः** पहुँच कर रपर होने का नियम वना दिया, क्योंकि **अवर्ण** रूप गुण **ऋ** वर्ण के स्थान पर प्राप्त हो रहा था सो **अवर्ण** जो है वह **रपर** होकर प्रवृत्त होगा। र-प्रत्याहार अर्थात् र् और ल् वर्णों को साथ में लेकर अवर्ण **अर्** एवं **अल्** के रूप में प्रवृत्त होगा। **अर्-अल्** में **कण्ठ-मूर्धा स्थान** वाले वर्ण हैं **अर्**। अतः **कृष्ण** में **अकार** और **ऋद्धिः** में **ऋकार** के स्थान पर **अर्** आदेश हो जाता है। इस तरह **कृष्ण्+अर्+द्धिः** बन गया। वर्णसम्मेलन होने पर **ष्ण्** जाकर **अर्** में मिलता है- **कृष्णर्‌द्धिः** बन गया। रेफ का स्वभाव ऊपर बैठने का होता है, सो द्धिः के ऊपर बैठ गया- **कृष्णर्द्धिः** सिद्ध हुआ।

रेफ अर्थात् **र्** इस वर्ण के सम्बन्ध में-

अचं दृष्ट्वा अधो याति हशश्चोपरि गच्छति।

अवसाने विसर्गः स्याद् रेफस्य त्रिविधा गतिः॥ अर्थात् **र्**=रेफ आगे **अच्** को देखकर सामान्यतया उससे मिलकर के बैठता है, जैसे कि **मणिर्+इति=मणिरिति**। आगे **हश्** प्रत्याहार के वर्ण हैं तो वह उसके ऊपर जाकर बैठता है, जैसे कि **हरिर्+हरति=हरिर्हरति**। यदि आगे कोई भी वर्ण नहीं है अर्थात् अवसान है तो वह रेफ विसर्ग बन जाता है, जैसे कि **रामर्= रामः**। उक्त कथनानुसार **हश्** के परे रहते रेफ उसके ऊपर जाकर के बैठता है। इसके सम्बन्ध में एक न्याय प्रसिद्ध है- **जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्** अर्थात् जिस तरह से **तुम्बी** (सूखी लौकी) जल में डालने पर ऊपर उठती है, उसी तरह रेफ भी हश् के परे रहने पर ऊपर उठकर बैठता है।

तवल्कारः। तुम्हारा लृकार। **तव+लृकारः** इस स्थिति में पूर्व में विद्यमान अवर्ण और पर में विद्यमान अच् **लृकारः** के **लृ** के स्थान पर **स्थानेऽन्तरतमः** और **उरण् रपरः** की सहायता से **आद्‌गुणः** से रपर सहित गुण होकर **अल्'** रूप आदेश होकर **तव्+अल्+कारः** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **तवल्कारः** सिद्ध हो जाता है। जहाँ-जहाँ भी **ऋ** और **ऌ** के स्थान पर अणादेश प्राप्त होगा, वहाँ-वहाँ **'उरण् रपरः''** इस सूत्र की अवश्य प्रवृत्ति होगी, यह बात न भूलें।

यहाँ पर **कृष्णर्द्धिः** और **तवल्कारः** इन प्रयोगों की **संगति** देखें-

वे अखिलकोटि ब्रह्माण्ड के नायक भगवान् श्री विष्णु उपेन्द्र अर्थात् वामन बने थे तो एक बार कृष्ण बनकर के भी आए और स्वयं भी समृद्ध होकर सम्पूर्ण व्रज सहित अपने आश्रितों को भी समृद्ध बनाया। वे कृष्ण स्वयं के ऐश्वर्य से समृद्धि को प्राप्त होते ही हैं साथ ही अपने अनुयायियों को समृद्ध भी बनाते हैं किन्तु उसके प्रति पूर्ण समर्पण चाहिए कि मैं तुम्हारा ही हूँ और तुम्हारी आकृति ही मेरी आकृति है अर्थात् तुम्हीं मेरे लिए शरण हो।

अभ्यासः

(क) **निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-**

राजा+ऋषिः। वसन्त+ऋतुः। देव+ऋषिः। ब्रह्म+ऋषिः। मम+ऌकारः।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों का सन्धिविच्छेद कर सूत्रनिर्देशनपूर्वक सन्धि करें।

पुण्यर्द्धिः। ममल्वर्णः। तवल्दन्तः। ग्रीष्मर्तुः। सप्तर्षिः।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३०. लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे।

अधिकारसूत्रम्

३१. पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१॥

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

....

(ग) **उप+इन्द्रः** में **उरण् रपरः** यह सूत्र क्यों नहीं लगता?

(घ) **उरण् रपरः** यह सूत्र न होता तो क्या हानि होती?

(ङ) **उरण् रपरः** यह विधिसूत्र है, संज्ञासूत्र है, या परिभाषा सूत्र?

(च) र-प्रत्याहार से किन-किन वर्णों का बोध होता है?

३०- **लोपः शाकल्यस्य**। लोपः प्रथमान्तं, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **व्योलघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से **व्योः** की तथा **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **अपूर्वस्य** एवं **अशि** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** सूत्र का अधिकार आ रहा है, उसका यहाँ पर द्विवचन में विपरिणाम होता है। विकल्प अर्थ इसी सूत्र के **''शाकल्यस्य''** पद से ही निकलता है। शाकल्य ऋषि के मत में लोप होगा, अन्यों के मत में लोप नहीं होगा, ऐसा फलितार्थ निकलता है।

अवर्णपूर्वक पदान्त यकार और वकार का विकल्प से लोप होता है अश् प्रत्याहार के परे होने पर।

जिन **यकार** और **वकार** का लोप करना है, वे **पद के अन्त में** विद्यमान हों और उनसे पूर्व में **अवर्ण** ही हो तथा पर में **अश्** प्रत्याहार वाले वर्ण हों तो **य्-व्** इन वर्णों का लोप हो जाता है। यह वैकल्पिक लोप है। एक बार लोप होता है और एक बार नहीं। यहाँ पर सूत्र में **शाकल्यस्य** कहा गया है। शाकल्य नामक ऋषि के मत में लोप होगा अन्य के मत में नहीं। इसी तरह प्रायः जहाँ-जहाँ पर भी किसी ऋषि का नाम सूत्र और वार्तिक में लिया गया है, उससे विकल्प ही सिद्ध होता है किन्तु कहीं-कहीं पाणिनि जी ने ऋषियों का नाम उनके सम्मान के लिए भी लिया है, जिसके कारण विकल्प नहीं माना जायेगा। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में ऐसी जगहों पर **आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्** आदि निर्देश दिया है। धन्य हैं वे ऋषि, जिनका नाम आचार्य पाणिनि अपने सूत्रों में केवल सम्मान के लिए ही उच्चारण करते हैं। **लोपः शाकल्यस्य** में शाकल्य का नाम पूजा, सम्मान के लिए न होकर विकल्प के लिए ही है।

३१- **पूर्वत्रासिद्धम्**। पूर्वस्मिन् इति पूर्वत्र। न सिद्धम्, असिद्धम्। पूर्वत्र अव्ययम्, असिद्धं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी असिद्धा होती है और त्रिपादी में भी पूर्वत्रिपादी के प्रति परत्रिपादी असिद्धा होती है।

यह सूत्र समस्त सूत्रों को दो भागों में विभाजित करता है- एक **सपादसप्ताध्यायी**

और दूसरा **त्रिपादी**। पाणिनि जी के द्वारा रचित **अष्टाध्यायी** के सारे सूत्र **आठ अध्यायों** में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में **चार-चार पाद** हैं। **सात अध्याय पूरा** और **आठवें अध्याय के प्रथम पाद**, अर्थात् **सवा सात अध्याय** को **सपादसप्ताध्यायी** के रूप में व्यवहार करते हैं और शेष **आठवें अध्याय के दूसरे, तीसरे और चतुर्थ चरण** ये कुल **तीन पाद** हैं। अतः ये **त्रिपादी** कहलाते हैं। **त्रिपादी** और **सपादसप्ताध्यायी** के बीच यह सूत्र यह निर्णय कर देता है कि समस्त **सपादसप्ताध्यायी** के प्रति समस्त **त्रिपादी** सूत्र **असिद्ध** होते हैं अर्थात् जब समान जगहों पर **सपादसप्ताध्यायी** के सूत्र एवं **त्रिपादी** के सूत्र एकं साथ प्रवृत्त होते हैं तो वहाँ पर **त्रिपादी** सूत्र असिद्ध होकर हट जाते हैं और **सपादसप्ताध्यायी** के सूत्र प्रवृत्त होते हैं। एक और भी बात है कि त्रिपादी के द्वारा किये जा चुके कार्य भी सपादसप्ताध्यायी के सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध ही होते हैं।

यह **अधिकार सूत्र** है। अधिकार सूत्र स्वयं में कुछ नहीं करता किन्तु अन्य सूत्रों में एक नियम बना देता है या अनुवृत्ति के रूप में जाकर के उसका कार्य सिद्ध कर देता है। यहाँ पर इस सूत्र ने दो व्यवस्था वना दी- पहली तो **सपादसप्ताध्यायी** और **त्रिपादी** सूत्रों की एक साथ उपस्थिति में **त्रिपादी** के सूत्रों को असिद्ध करना और दूसरी व्यवस्था **त्रिपादी** के द्वारा किये जा चुके कार्यो को **सपादसप्ताध्यायी** की दृष्टि में असिद्ध करना। यहाँ पर दूसरी व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

कई आचार्यों ने इसे विधिसूत्र भी माना है।

हर इह। हे हरे यहाँ पर (आओ) **हरे+इह** में **एचोऽयवायावः** इस सूत्र से **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** सूत्र की सहायता से स्थानी में **प्रथम** हरे के **एकार** के स्थान पर आदेश में **प्रथम- अय्** आदेश हुआ तो **हर्+अय्+इह** बना। **र्** और **अ** का वर्णसम्मेलन हुआ तो **हर+य्+इह** बना। ऐसी स्थिति में सूत्र लगा **लोपः शाकल्यस्य**। यहाँ पर **अश्** परे है इह वाला **इकार** और **अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार** है **हर** के बाद वाला **य्**, वह **अवर्ण** से परे भी है और पद के अन्त में भी है, क्योंकि **हरे** एक पद है तथा उसके अन्त वर्ण 'ए' के स्थान पर हुए आदेश में भी **पदान्तत्व** आ जाता है। इसलिए **य्** पद के अन्त में विद्यमान वर्ण है। एक पक्षमें इस सूत्र के द्वारा उसका लोप हुआ। **हर इह** बना। अब **हर+इह** में **आद्गुणः** की प्रवृत्ति होने वाली थी क्योंकि **आद्गुणः** यह सूत्र अवर्ण से अच् परे रहने पर लगता है। यहाँ पर **अवर्ण** है **हर** में अन्तिम वर्ण अ, और **अच्** परे है **इह** का **इकार**। ऐसी स्थिति में **पूर्वत्रासिद्धम्** यह सूत्र पहुँचकर यह निर्णय देता है कि **सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी असिद्धा होती है। लोपः शाकल्यस्य** ८।३।१९।। यह सूत्र त्रिपादी है और **आद्गुणः** ६।१।८७।। यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी है। **लोपः शाकल्यस्य** से किये गये **यकार के लोप** को ही यह सूत्र असिद्ध करता है। फलतः **आद्गुणः** की दृष्टि में य् का लोप असिद्ध हो जाता है। वह **हर+इह** के बीच में **य्** को देखता है। अवर्ण औ अच् के **बीच में य् के** दिखाई देने के कारण अवर्ण से अच् परे होने में वह व्यवधान बना। इसलिये **गुण की प्राप्ति नहीं हो पाई**। यदि ऐसा न होता तो गुण हो जाने पर **"हरेह"** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। यहाँ पर जब **पूर्वत्रासिद्धम्** इस सूत्र के बल पर **य्** का लोप असिद्ध **रहा तो गुण भी नहीं हुआ**। इस प्रकार से **हर इह** ऐसा ही रूप रह गया। **लोपः शाकल्यस्य** का कार्य **विकल्प से होता है अर्थात् एक पक्ष में होता है और एक पक्ष में नहीं होता**। जब **लोपः शाकल्यस्य** से **य्** का लोप नहीं हुआ, तब बीच में **यकार** से युक्त **हर य् इह** है,

वृद्धिसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३२. वृद्धिरादैच् १।१।१।

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

....

इस में वर्णसम्मेलन होने पर **य्** जाकर **इ** से मिल गया तो **हरयिह** यह दूसरा रूप भी बन गया।

यहाँ पर **पूर्वत्रासिद्धम्** से यकार का लोप असिद्ध होने का तात्पर्य यह है कि इस य-वर्ण का लोप होने पर भी लोप न हुआ हो, ऐसा प्रतीत होना, न कि फिर से इस वर्ण का आना। इसलिए **हर+इह** में यकार नहीं दिखाई देता अर्थात् केवल गुण आदि कार्यों को रोकने के लिए ही असिद्ध माना गया न कि इसको वापस **य्** करने के लिए। अतः यकार के लोपपक्ष में **हर इह** ऐसा एक रूप सिद्ध होता है।

विष्ण इह। हे विष्णुभगवान्! यहाँ (आओ) **विष्णो+इह** में भी **एचोऽयवायावः** इस सूत्र से **अव्** आदेश होने पर **विष्ण्+अव्+इह** बना। **लोपः शाकल्यस्य** से **व्** का लोप होकर **विष्ण इह** बनने के बाद **पूर्वत्रासिद्धम्** सूत्र से **व्** का लोप असिद्ध होगा अर्थात् **विष्ण+इह** की बीच में **व्** दीखेगा। अवर्ण से अच् परे न मिलने के कारण अर्थात् **वकार** के व्यवधान के कारण **आद्गुणः** से गुण नहीं होगा। **विष्ण इह** ऐसा ही रूप रह जायेगा। लोप न होने के पक्ष में वकार और इकार में वर्णसम्मेलन होकर **विष्णविह** बनता है।

हर इह। विष्ण इह। हे हरे! इह (आगच्छ) हे विष्णो! इह (आगच्छ)। हरे और विष्णो ये सम्बोधन के रूप हैं। इन प्रयोगों से भगवान् से प्रार्थना करने की प्रेरणा मिलती है कि प्रभो! कभी तो इधर भी देखो! इस अकिंचन के रक्षार्थ भी अवतार लिया करो। द्रौपदी, गजेन्द्र आदि ने पुकारा तो आप आ गये थे। ये दो प्रयोग पौराणिक प्रसंगों का स्मरण कराते हैं।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिविच्छेद कर पुनः सूत्र लगाकर सन्धि करें-
वाला आगच्छतः। श्रिया उत्कण्ठितः। आसन आस्ते। करा एतौ। नरा उदारौ। गृह आसीत्। गुरा आयाते।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों की सन्धि करें-
भानो+इह। विश्वे+उपासिते। स्थले+असि। कस्मै+अयच्छत्। छात्रौ+आयातौ।

(ग) **पूर्वत्रासिद्धम्** यह सूत्र स्वयं में सपादसप्ताध्यायी है या त्रिपादी?

(घ) **लोपः** शाकल्यस्य इस सूत्र में **विकल्प से** यह अर्थ कैसे बना?

(ङ) **हरये, विष्णवे** आदि प्रयोगों में **लोपः शाकल्यस्य** से यकार-वकार का लोप क्यों नहीं होता?

३२- वृद्धिरादैच्। वृद्धिः प्रथमान्तम्, आदैच् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

आ और ऐच् (ऐ, औ) ये वृद्धिसंज्ञक होते हैं।

आत्- दीर्घ आकार और **ऐच्**- ऐच् प्रत्याहार अर्थात् **ऐ, औ** इस तरह **आ, ऐ, औ** ये तीन वर्ण वृद्धि कहलाते हैं। जहाँ पर अन्य सूत्र **वृद्धि** का विधान करते है, वहाँ **आ, ऐ, औ** ये तीन आदेश के रूप में उपस्थित हो जाते हैं अर्थात् जहाँ भी **वृद्धि** शब्द का उच्चारण होगा,

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

३३. वृद्धिरेचि ६। १। ८८॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः।

कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्।।

....

उससे **आ, ऐ, औ** ही समझे जायेंगे। **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** का यह प्रथमसूत्र है। सूत्रों में सर्वप्रथम उच्चारित शब्द **'वृद्धि'** होने के कारण यह मंगलार्थक भी माना जाता है।

३३- वृद्धिरेचि। वृद्धिः प्रथमान्तम्, एचि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **आद्गुणः** से **आत्** की अनुवृत्ति आती है और **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

एकः पूर्वपरयोः का अधिकार होने के कारण **पूर्व** और **पर** के दो वर्णों के स्थान पर **एक** ही आदेश होने का विधान होता है। पूर्व में **अवर्ण** हो और पर में **एच्**-प्रत्याहार अर्थात् **'ए, ओ, ऐ, औ'** में से कोई एक वर्ण हो तो **पूर्ववर्ण** तथा **परवर्ण** दोनों के स्थान पर वृद्धि अर्थात् **'आ, ऐ, औ'** ये तीन वर्ण आदेश के रूप में प्राप्त होते हैं। यह सूत्र **आद्गुणः** का बाधक है। **आद्गुणः** अवर्ण से अच् परे रहने पर लगता है और **वृद्धिरेचि** यह सूत्र **अवर्ण से एच् परे रहने पर**। एच् भी **अच्** के अन्तर्गत आते हैं। अतः एच् परे रहने पर **वृद्धिरेचि** यह सूत्र **आद्गुणः** को बाधकर स्वयं कार्य करता है (वृद्धि करता है) और शेष **अ, इ, उ ,ऋ, ऌ** के पर होने पर **आद्गुणः** से गुण ही होता है। उसमें भी **अवर्ण** से **अवर्ण** के ही परे रहने पर **आद्गुणः** को बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** यह सूत्र दीर्घ करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि **अवर्ण** से **इ, उ, ऋ, ऌ** के परे रहने पर गुण होगा तथा **अवर्ण** से **ए, ओ, ऐ, औ** के परे रहने पर वृद्धि होगी।

आद्गुणः एवं **वृद्धिरेचि** इन सूत्रों में **बाध्य-बाधकभाव** है। दोनों सूत्रों में से अधिक जगहों पर लगने वाला सूत्र **बाध्य** और कम जगहों पर लगने वाला सूत्र **बाधक** होता है अर्थात् जिसका क्षेत्र बड़ा है, वह **बाध्य** तथा जिसका क्षेत्र कम है, वह **बाधक** है। **बाध्य** सूत्र **सामान्य** और **बाधक** सूत्र **विशेष** होता है। सर्वत्र **सामान्य** से **विशेष** बलवान् होता है, इसीलिए वह **बाध्य** को बाधता है। **बाधक** को **अपवाद** भी कहा गया है। हमने हिन्दी **बाधित करता है** इसके लिए प्रायः **बाधता है** ऐसा प्रयोग किया है, इन बातों का ध्यान रखें। अब इन दोनों सूत्रों में **आद्गुणः** अच् मात्र का विषय वाला होने से **अधिक क्षेत्रवाला** और **वृद्धिरेचि** 'एच्' मात्र का विषय वाला होने से **कम क्षेत्रवाला** है। अतः **एच्** परे रहने पर **आद्गुणः** इस सामान्य सूत्र को बाधकर **वृद्धिरेचि** लगता है। **सामान्यसूत्र** को **उत्सर्ग** और **विशेष** को **अपवादसूत्र** भी कहते हैं।

कृष्णैकत्वम् (कृष्ण का ऐक्य)। **कृष्ण+एकत्वम्** में **संहितासंज्ञा** हो जाने के बाद अवर्ण से अच् परे होने के कारण **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति हुई तो उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** यह सूत्र लगा क्योंकि यहाँ **एच्** परे भी है। **अवर्ण से एच् परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है,** यह सूत्रार्थ है। **अवर्ण** है **कृष्ण** में **ण्** के बाद वाला **अ** तथा **एच्** परे है **एकत्वम्** का आदिवर्ण **एकार**। पूर्व में है **अ** और

पर में है **ए**। इन दोनों वर्णों के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक आदेश वाले वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीनों प्राप्त हुए। दो वर्णों के स्थान पर एक आदेश होना है और प्राप्ति हुई तीनों वर्णों की। अतः अनियम हुआ। इसलिए नियमार्थ सूत्र लगा **स्थानेऽन्तरतमः। स्थान** मिलाने पर कृष्ण के अकार का कण्ठस्थान और एकत्वम् के एकार का कण्ठतालु स्थान है। दोनों का स्थान मिलाकर कण्ठ-कण्ठतालु स्थान, अर्थात् **कण्ठतालु स्थान** है। स्थानियों का स्थान **कण्ठतालु** है तो अब आदेश में भी **कण्ठतालु** स्थान वाला कौन सा वर्ण है? खोजा तो **ऐ** का कण्ठतालु स्थान है। अतः **ऐ** आदेश हुआ। **कृष्ण** के **अकार** और **एकत्वम्** के एकार को हटाया। ध्यान रहे कि **आदेश स्थानी को हटाकर के ही बैठता है**। यहाँ पर दोनों वर्णों के स्थान पर **ऐ** आदेश बैठ गया- **कृष्ण्+ऐ+कत्वम्** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **ष्ण्** जाकर **ऐ** से मिला तो **कृष्णैकत्वम्** सिद्ध हुआ। यह तो एच् में से केवल **'ए'** परे रहने का उदाहरण है। **'ओ'** परे रहने का उदाहरण है- **गङ्गौघः।**

गङ्गौघः। गंगा का प्रवाह। **गङ्गा+ओघः** यह स्थिति है। पूर्व में **आकार** और पर में **ओकार** है। दोनों का स्थान हुआ **कण्ठ-ओष्ठ**। यहाँ पर भी गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** लगाकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **आ** और **ओ** के स्थान पर **कण्ठ-ओष्ठ** स्थानवाला **औ** यह वर्ण आदेश हुआ तो **गङ्ग्+औ+घः** बना। वर्ण सम्मेलन हुआ **गङ्गौघः। ऐ** के परे रहने का उदाहरण आगे देखें।

देवैश्वर्यम्। देवों का ऐश्वर्य। **देव+ऐश्वर्यम्** में पूर्व में **अकार** और पर में **ऐकार** है। दोनों का स्थान हुआ **कण्ठ-तालु**। यहाँ पर भी गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** लगाकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **अ** और **ऐ** के स्थान पर **कण्ठ-तालु** स्थानवाला **ऐ** यह वर्ण आदेश हुआ तो **देव्+ऐ+श्वर्यम्** बना। वर्ण सम्मेलन हुआ **देवैश्वर्यम्** सिद्ध हुआ। **औ** के परे रहने का उदाहरण आगे देखें।

कृष्णौत्कण्ठ्यम्। कृष्ण के विषय में उत्कण्ठा। **कृष्ण+औत्कण्ठ्यम्** में पूर्व में **अकार** और पर में **औकार** है। दोनों का स्थान हुआ **कण्ठ-ओष्ठ**। यहाँ पर भी गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** लगाकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **अ** और **औ** के स्थान पर **कण्ठ-ओष्ठ** स्थानवाला **औ** यह वर्ण आदेश हुआ तो **कृष्ण्+औ+त्कण्ठ्यम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **कृष्णौत्कण्ठ्यम्** सिद्ध हुआ।

कृष्णैकत्वम्। **गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्**। हमारा शरण्य वह कृष्ण मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण, कल्कि आदि अवतार लेकर भिन्न-भिन्न रूपों को प्रदर्शित करता है किन्तु इनमें **ऐक्य** है अर्थात् एक ही स्वरूप है। जिसकी भी उपासना करें, प्राप्ति उसी कृष्ण की ही होती है। उस परब्रह्म **देव का ऐश्वर्य** तो देखो जो अपनी इच्छाशक्ति मात्र से सारे संसार की रचना, पालन और संहार करता है। उसका कार्य **गङ्गा के प्रवाह** की तरह अबाध गति से चलता रहता है। उसके कार्य गङ्गा की तरह पवित्र होते हैं। ऐसा सर्वसमर्थ, ऐश्वर्य परिपूर्ण परमात्मा भगवान् कृष्ण अपने योगियों के लिए उत्कण्ठा का विषय है। योगिजन उसको जानने के लिए वेद एवं वेदों के पद, क्रम आदि पारायणों से निरन्तर अनुष्ठानशील रहते हैं। स्वयं वेद भी जिनको समझने लिए निरन्तर गान करते रहते हैं फिर भी पार नहीं पाते और निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। ऐसा कृष्ण सबके लिए ज्ञेय और ध्येय है।

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

३४. एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्।

उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत्।

वार्तिकम्- **अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्।** अक्षौहिणी सेना।

वार्तिकम्- **प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु।** प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

वार्तिकम्- **ऋते च तृतीयासमासे।** सुखेन ऋतः, सुखार्तः। तृतीयेति किम्? परमर्तः।

वार्तिकम्- **प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे।** प्रार्णम्, वत्सतरार्णम् इत्यादि।

....

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धि करें-
एक+एकम्। तथा+एव। तदा+एव। तव+एव। तव+ओकः। तण्डुल+ओदनः। शर्करा+ओदनः। प्राचीन+ऐतिह्यम्। नृप+ऐश्वर्यम्। सर्व+ऐश्वर्यम्। तथा+एव।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों की सन्धिविच्छेद कर पुनः सूत्र लगाकर सन्धि करें-
पञ्चैते। महौषधिः। बालैषा। जनैकता। महौदार्यम्। रामैश्वर्यम्।
तदैव। एकैकम्। सर्वदैक्यम्। तवौदार्यम्। दिव्यौषधम्। द्वितीयैकवचनम्।

(ग) **आद्गुणः** और **वृद्धिरेचि** ये आपस में बाध्य-बाधक कैसे बने? व्याख्या करें।

(घ) **उप+इन्द्रः** इस प्रयोग में **वृद्धिरेचि** क्यों नहीं लगता?

(ङ) **वृद्धिरेचि** सूत्र के लिए आप स्वयं कितने उदाहरण ढूँढ़ सकते हैं?

(च) यदि **वृद्धिरेचि** सूत्र न होता तो इसके जो चार उदाहरण कौमुदी में दिखाए गए हैं- उनके कैसे अनिष्ट रूप बनते?

३४- एत्येधत्यूठ्सु। एतिश्च, एधतिश्च, ऊठ् च तेषाम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः, एत्येधत्यूठः, तेषु एत्येधत्यूठ्सु। एत्येधत्यूठ्सु सप्तम्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आद्गुणः से आद्** तथा **वृद्धिरेचि से वृद्धि** और **एचि** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अवर्ण से एच् आदि में हो ऐसे इण् धातु या एध् धातु अथवा ऊठ् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

वृद्धिरेचि से प्राप्त **एचि** यह पद **एति, एधते** का विशेषण बनता है, **ऊठ्** का नहीं क्योंकि ऊठ् का ऊकार एच् प्रत्याहार में नहीं आता। अतः **ऊठ्** एच् नहीं हो सकता। **एति** से **इण्** धातु और **एधते** से **एध्** धातु समझना चाहिए। कैसा **एति** और **एधते**? **एच्** आदि में हो ऐसे **इण्** धातु और **एध्** धातु। अर्थात् **इण्** धातु में गुण आदि होकर **एच्** बन गया हो और **एध्** धातु ह्रस्व आदि होकर **एजादित्व** को न छोड़ा हो। **एचि** यह पद **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** इस परिभाषा के बल से तदादिविधि होकर **एच्** आदि में हो ऐसा **इण्** और एच् आदि में हो ऐसा **एध्** धातु, ऐसा अर्थ बनाता है।

यह सूत्र **आद्गुणः** और **एङि पररूपम्** आदि का **अपवाद** अर्थात् **बाधक** है। **अवर्णान्त उप** आदि से **एति** और **एधते** के परे रहने पर तो **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त थी

किन्तु उसे बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप प्राप्त हो रहा था, उसे भी बाधकर वृद्धि करने के लिए तथा **प्रष्ठ+ऊहः** में गुण प्राप्त था, उसे बाधने के लिए यह सूत्र बनाया गया। यदि यह सूत्र न होता तो **उप+एति** और **उप+एधते** में पररूप होकर **उपेति** और **उपेधते** तथा **प्रष्ठ+ऊहः** में गुण होकर **प्रष्ठोहः** ऐसे अनिष्ठ रूप बन जाते।

उपैति। पास जाता है। उप+एति में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई, उसे भी बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप प्राप्त हुआ, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **एत्येधत्यूठसु**। अवर्ण है **उप** में पकारोत्तरवर्ती **अकार**, उससे **एजादि इण्** धातु पर में है **एति**। पूर्व में है **उप** का **अकार** और पर में है **एति** का **एकार**। इस तरह **अकार** और **एकार** के स्थान पर **वृद्धिसंज्ञक एक आदेश** होना है। वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीन हैं और स्थानी **अ** और **ए** दो ही हैं। दो के स्थान पर एक आदेश होना है किन्तु तीन आदेशों की प्राप्ति हो रही है। अतः अनियम हुआ। **स्थानेऽन्तरतमः** के बल पर स्थान मिलाने पर **कण्ठतालु** स्थान वाले **अ** और **ए** के स्थान पर कण्ठतालुस्थान वाला ही **ऐ** यह आदेश हुआ। आदेश हमेशा स्थानी को हटाकर के बैठता है। अतः **उप** के **अकार** और **एति** के **एकार** को हटाकर के बैठा तो **उप्+ऐ+ति** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उपैति** सिद्ध हुआ।

कृष्ण के प्रति उत्कण्ठा होने पर उनकी कृपा से वह कृष्ण के नजदीक होता है, उसके पास जाता है।

उपैधते। (पास बढ़ता है)। उप+एधते में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई, उसे भी बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप प्राप्त हुआ, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **एत्येधत्यूठसु**। अवर्ण है **उप** में पकारोत्तरवर्ती **अकार**, उससे **एजादि एध्** धातु पर में है **एधते**। पूर्व में है **उप** का **अकार** और पर में है **एधते** का **एकार**। अकार और एकार के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होना है। वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीन हैं और स्थानी **अ** और **ए** ये दो हैं। अतः अनियम हुआ। **अ** और **ए** का कण्ठतालु स्थान है। **स्थानेऽन्तरतमः** के बल पर स्थान मिलाने पर आदेश में कण्ठतालुस्थान वाला **ऐ** मिला। अतः **अकार** और **एकार** को हटाकर **ऐकार** आदेश हुआ- **उप्+ऐ+धते** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उपैधते** सिद्ध हुआ।

जो उस कृष्ण के पास जाता है वह बढ़ता ही जाता है।

प्रष्ठौहः। प्रष्ठ+ऊहः। यहाँ पर **प्रष्ठवाह्** शब्द से द्वितीया का बहुवचन **शस्** के आने पर **प्रष्ठवाह्+अस्** था। **वाह ऊठ्** सूत्र से सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ् आदेश होकर सकार के रुत्वविसर्ग हो जाने पर **ऊहः** बना है। यहाँ पर **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर के सूत्र लगा- **एत्येधत्यूठ्सु**। यहाँ पर सूत्र का अर्थ किया जायेगा- **अवर्ण से ऊठ् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो**। ऐसा अर्थ करना इसलिए चाहिए कि **ऊहः** इण् और एध् धातु नहीं है, अतः एजादि भी नहीं है। अब पूर्व में है **अ** और पर में **ऊ**, दोनों के स्थान पर वृद्धि प्राप्त होने पर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान मिलाने पर **औ** आदेश हुआ- **प्रष्ठ्+औ+हः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **प्रष्ठौहः** सिद्ध हुआ।

कृष्ण की कृपा को प्राप्त भक्त के सारे कार्यों का भार कृष्ण स्वयं उठाते हैं।

एजाद्योः किम्? उपेतः। **उप+इतः** यह स्थिति है। **इण्** धातु से **क्त** प्रत्यय होकर

इतः बना है। यद्यपि यह भी **इण्** धातु ही है किन्तु गुण न होने के कारण **एजादि** नहीं बन पाया है। यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि **एत्येधत्यूठ्सु** इस सूत्र में **एचि** की अनुवृत्ति लाकर **एजाद्योः** यह अर्थ बनाने की क्या जरूरत है? उत्तर दिया **उपेतः**। यदि **एजाद्योः** नहीं कहेंगे तो सूत्रार्थ कैसा होगा? **अवर्ण से इण् और एध् धातु तथा ऊठ् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो।** ऐसा अर्थ करने पर **उप+इतः** में भी सूत्र की प्रवृत्ति होगी, क्योंकि **इतः** यह इण् धातु का ही रूप है। अतः **एजाद्योः** कहना जरूरी है। **एजाद्योः** कहने पर **एच्** आदि में होने पर ही लगेगा। अतः **उप+इतः** में वृद्धि नहीं होगी। **एजाद्योः** को हटाने पर तो **उप+इतः** में भी वृद्धि होकर उपैतः ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होने लगेगा। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए इस सूत्र में **एजाद्योः** यह पद पढ़ना पढ़ा। इसी तरह **मा भवान् प्र+इदिधत्** में **एध्** धातु से **इदिधत्** बना है। पहले एजादि **एध्** धातु था किन्तु **एकार** को **ह्रस्व** होकर **इकार** बना है। यदि **एजाद्योः** नहीं कहेंगे तो **एध्** धातु मानकर **प्र+इदिधत्** में वृद्धि होकर के **प्रैदिधत्** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए भी **एत्येधत्यूठ्सु** में **एजाद्योः** पढ़ना जरूरी है। **मा भवान् प्रेदिधत्।**

अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्। यह वार्तिक है। **अक्ष शब्द से ऊहिनी शब्द के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो, ऐसा कहना चाहिए।** (**उपसंख्यानम्** इस शब्द का अर्थ है- **इतना अधिक कहना अर्थात् पढ़ना चाहिए,** अर्थात् इस सूत्र में इतने की कमी थी, सो ऐसा पढ़ना उचित होगा।)

अक्षौहिणी सेना। अक्ष+ऊहिनी में **वृद्धिरेचि** और **एत्येधत्यूठ्सु** से वृद्धि प्राप्त नहीं हो रही थी किन्तु गुण मात्र प्राप्त था और गुण हो जाता तो **अक्षोहिणी** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। उक्त अनिष्ट निवारण के लिए कात्यायन जी को यह वार्तिक बनाना पड़ा। यह वार्तिक केवल **अक्षौहिणी** इस प्रयोग को ही सिद्ध करता है। यहाँ पर **अक्ष** शब्द से **ऊहिनी** शब्द परे है। पूर्व है **अक्ष** का **अकार** और **पर** में है **ऊहिनी** का **ऊकार**। दोनों के स्थान पर **वृद्धि** अर्थात् **आ, ऐ, औ** ये तीनों प्राप्त हो गये और **स्थानेऽन्तरतमः** के सहयोग से स्थान से मिलाने पर **कण्ठ-ओष्ठस्थान** वाले **अकार** और **ऊकार** के स्थान पर **कण्ठओष्ठस्थान** वाला **औ** मिलता है। अतः **अकार** और **ऊकार** को हटाकर **औकार** आदेश हुआ। **अक्ष्+औ+हिनी** बना। वर्णसम्मेलन होकर **अक्षौहिनी** बना। **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** सूत्र से **नकार** के स्थान पर **णकार** आदेश होकर **अक्षौहिणी** सिद्ध हो जाता है।

अक्षौहिणी सेना होती है। यह शब्द महाभारत की घटनाओं को याद दिलाता है। महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सात अक्षौहिणी और कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं। **२१८७० रथ, २१८७० हाथी ६५६५० घोड़े और १०९३५० पैदल सेना, इतना मिलाकर एक अक्षौहिणी सेना बनती है।**

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। यह भी वार्तिक है। **प्र-शब्द के अकार से ऊहः, ऊढः, ऊढिः, एषः और एष्यः से सम्बन्धित अच् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।**

प्रौहः(प्र+ऊहः, उत्तम तर्क करने वाला), **प्रौढः**(प्र+ऊढः, बढ़ा हुआ, परिपक्व), **प्रौढिः**(प्र+ऊढिः, परिपक्वता, प्रौढता) इन प्रयोगों में वृद्धि प्राप्त नहीं थी अपितु गुण प्राप्त

था और **प्रैष:** (प्र+एष:, प्रेरणा), **प्रैष्य:**(प्र+एष्य:, प्रेरणीय, सेवक आदि) इन प्रयोगों में वृद्धि तो प्राप्त थी किन्तु उसे बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप भी प्राप्त था। ऐसा हो जाता तो उक्त रूपों की जगह **प्रोह:, प्रोढ:, प्रोढि:, प्रेष:, प्रेष्य:** ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। उक्त अनिष्ट निवारण के लिए कात्यायन जी ने इस वार्तिक को बनाया। **प्रौह:**(प्र+ऊह:), **प्रौढ:**(प्र+ऊढ:), **प्रौढि:**(प्र+ऊढि:) इन प्रयोगों में पूर्व में **अवर्ण** और पर में **ऊवर्ण** के स्थान पर आदेश के साथ स्थान से साम्यता मिलाने पर औ वृद्धि और **प्रैष:** (प्र+एष:), **प्रैष्य:**(प्र+एष्य:) इन प्रयोगों में पूर्व में अवर्ण और पर में **एवर्ण** के स्थान पर आदेश के साथ स्थान से साम्यता मिलाने पर ऐ-वृद्धि होकर उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं। **प्रौह:, प्रौढ:, प्रौढि:, प्रैष:, प्रैष्य:।**

ऋते च तृतीयासमासे। यह भी वार्तिक है। **अवर्ण से ऋत-शब्द के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है तृतीयासमास में।** यदि पूर्व में **अवर्ण** हो और पर में **ऋत** शब्द हो और दोनों शब्दों में तृतीयातत्पुरुष समास हो गया हो तो ही यह वार्तिक लगता है।

सुखार्त:। (सुख से युक्त) **सुखेन ऋत:** इस विग्रह में तृतीयातत्पुरुषसमास होकर **सुख+ऋत:** बना है। यहाँ पर **आद्गुण:** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **ऋते च तृतीयासमासे** से **सुख** में **अकार** और **ऋत:** के **ऋकार** के स्थान पर **उरण् रपर:** की सहायता से **रपर** सहित **आर्**-वृद्धि हुई- **सुख्+आर्+त:** बना। वर्णसम्मेलन और **रेफ** का **ऊर्ध्वगमन** हुआ- **सुखार्त:** सिद्ध हुआ। इति तरह **धनेन ऋत:- धनार्त:** आदि भी बना सकते हैं।

तृतीयेति किम्? परमर्त:। यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि **ऋते च तृतीयासमासे** इस वार्तिक में **तृतीयासमासे** यह इतना पद क्यों पढ़ा गया? न पढ़ते तो वार्तिक का अर्थ होता- **अवर्ण से ऋत-शब्द के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो।** ऐसा अर्थ होने पर **परमश्चासौ ऋत:, परम+ऋत:** इस **कर्मधारयसमास** वाले स्थलों पर भी वृद्धि होने लगेगी, जोकि नहीं होनी चाहिए। यदि यहाँ भी वृद्धि हो जाय तो **परमार्त:** ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए वार्तिक में **तृतीयासमासे** जोड़ा गया। इससे जहाँ तृतीयासमास मिलेगा, वहीं पर ही वृद्धि होगी, अन्यत्र नहीं। अत: **कर्मधारयसमास** वाले **परम+ऋत:** में इस वार्तिक से वृद्धि नहीं हुई और **उरण् रपर:** की सहायता से **आद्गुण:** से **अर्**-**गुण** होकर **परम्+अर्+त:=परमर्त:** सिद्ध हुआ।

प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे। यह वार्तिक है। प्र च, वत्सतरश्च, कम्बलश्च, वसनं च, ऋणं च, दश च प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानि, तेषां प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानाम् (इतरेतरयोगद्वन्द्व:) **प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश शब्दों से ऋण शब्द के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश हो।**

प्रार्णम्। (अधिक अथवा श्रेष्ठ ऋण)। **प्र+ऋणम्** इस स्थिति में **आद्गुण:** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे।** प्र से ऋण शब्द परे है। पूर्व में है **प्र** का **अकार** और पर में है **ऋणम्** का **ऋकार।** दोनों के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीनों प्राप्त हुए। **ऋकार** के स्थान पर प्राप्त हुए हैं तो **उरण् रपर:** से रपर होकर **स्थानेऽन्तरतम:** की सहायता से **आर्** आदेश हुआ, **प्र+आर्+णम्** बना, वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **प्रार्णम्।**

उपसर्गसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३५. उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९॥

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः।

प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप, एते प्रादयः।

....

इसी तरह **वत्सतरार्णम्**। (बछड़े के लिए ऋण)। **वत्सतर+ऋणम्** इस स्थिति में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे**। **वत्सतर** से **ऋण** शब्द परे है। पूर्व में है **वत्सतर** का **अकार** और पर में है **ऋणम्** का **ऋकार**। दोनों के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक वर्ण **आ, ऐ, औ** ये तीनों प्राप्त हुए। **ऋकार** के स्थान पर प्राप्त हुए हैं तो **उरण् रपरः** से रपर होकर **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से आर् आदेश हुआ, **वत्सतर्+आर्+णम्** बना, वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **वत्सतरार्णम्**।

अब इसी तरह अन्य प्रयोग भी बनाइये-

कम्बलार्णम्। कम्बल के लिए ऋण। **कम्बल+ऋणम्**।

वसनार्णम्। वस्त्र के लिए ऋण। **वसन+ऋणम्**।

ऋणार्णम्। ऋण के लिए ऋण। **ऋण+ऋणम्**।

दशार्णम्। दश प्रकार के जल वाला प्रदेश **दश+ऋणम्**।

अभ्यासः

१. **निम्नलिखित रूपों में सन्धिप्रक्रिया दिखायें।**
अवैति। समैति। अवैधते। समैधते। विश्वौहः। प्रौहः। प्रैषः। वत्सतरार्णम्। प्रमोदार्तः। अक्षौहिणी सेना।

२. **वृद्धिरेचि** और **एत्येधत्यूठ्सु** इन दो सूत्रों की तुलना करें।

३. **एत्येधत्यूठ्सु** इस सूत्र के साथ पढ़े गये सभी वार्तिकों की क्यों आवश्यकता है? स्पष्ट करें।

३५- उपसर्गाः क्रियायोगे। क्रियया योगः, क्रियायोगः(तृतीया तत्पुरुषः) तस्मिन् क्रियायोगे। उपसर्गाः प्रथमान्तं, क्रियायोगे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

क्रिया के योग में प्र आदि उपसर्गसंज्ञक होते हैं।

प्रादि संख्या में बाईस हैं। इनका क्रिया अर्थात् धातु के साथ योग होता है तो इनकी **उपसर्गसंज्ञा** होती है अर्थात् ये **उपसर्ग** कहलाते हैं।

यद्यपि उपसर्ग का कोई भी अर्थ नहीं होता फिर भी धातु के साथ मिलकर भिन्न-भिन्न अर्थों को निकालते हैं। अतः अर्थ के वाचक न होते हुए भी तत्तद् अर्थों के **द्योतक** हैं। स्वतन्त्र रूप में इनकी **निपात-संज्ञा** होती है और क्रिया के योग में **उपसर्गसंज्ञा**। इसके साथ **गतिश्च** यह सूत्र भी है जो क्रिया के योग में ही **गतिसंज्ञा** भी करता है। इसलिए ये **उपसर्ग** और **गति** के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये हैं- **प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप**। ये लौकिकी संस्कृत भाषा में हमेशा धातु से ठीक पहले प्रयोग किये जाते हैं किन्तु

धातुसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

३६. भूवादयो धातवः १। ३। १॥

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

वृद्धिविधायकं विधिसूत्रम्

३७. उपसर्गादृति धातौ ६। १। ९१॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशःस्यात्। प्राच्र्छति।

....

वेदों में बाद में भी अथवा व्यवधान होने पर भी प्रयुक्त होते हैं। प्रायः धातु के पहले एक ही उपसर्ग होता है, किन्तु कहीं-कहीं दो या दो से अधिक भी उपसर्ग देखे गये हैं।

३६- भूवादयो धातवः। भूश्च वाश्च भूवौ, आदिश्च आदिश्च इति आदी। भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, (द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः)। भूवादयः प्रथमान्तं, धातवः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

क्रियावाचक भू आदि धातुसंज्ञक होते हैं।

यह सूत्र भू आदि की **धातुसंज्ञा** करता है। धातु किसे कहते हैं? जो भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि गणों में अर्थ-निर्देशन पूर्वक पढ़े गये हों और उनका अर्थ क्रिया अर्थात् व्यापार हो। धातु कहलाने के लिए **भ्वादिगणपठित** भी होना चाहिए और **क्रियावाचक** भी। जैसे **पठति** में **पठ्**। यह भ्वादिगण में पठित भी है और 'पढ़ना' यह क्रियावाचकता रूप अर्थ भी है। अतः **पठ्** यह धातु है और **पठति** इत्यादि **धातु** के रूप।

३७- उपसर्गादृति धातौ। उपसर्गात् पञ्चम्यन्तं, ऋति सप्तम्यन्तं, धातौ सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आद्गुणः** से **आत्** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार भी चल ही रहा है।

अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धिसंज्ञक एक आदेश होता है।

ऋति और धातौ ये दो पद आपस में क्रमशः **विशेषण** और **विशेष्य** हैं। **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** इस परिभाषा के बल पर तदादि विधि होकर **ह्रस्व ऋकार** आदि में हो ऐसा जो धातु ऐसा अर्थ बना लिया जाता है।

यह सूत्र पूर्व में **अवर्णान्त उपसर्ग** और पर में **ऋकारादि धातु** होने पर लगता है। उपसर्ग के अन्त में **'अ'** ही हो और धातु के आदि में **ऋकार** ही हो तो **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **वृद्धिसंज्ञक एक आदेश** करता है। यह सूत्र **आद्गुणः** का बाधक है। सामान्य अवर्ण एवं सामान्य ऋकार में **आद्गुणः** द्वारा गुण तथा **उपसर्गान्त अवर्ण** एवं **धातु** के ऋकार की स्थिति में **उपसर्गादृति धातौ** द्वारा **उरण् रपरः** से रपर होकर **आर्** के रूप में वृद्धि होती है।

प्राच्र्छति। अच्छी तरह से जाता है। प्र+ऋच्छति में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति हुई तो उसे बाधकर सूत्र लगा- **उपसर्गादृति धातौ**। अवर्णान्त उपसर्ग है **प्र** तथा ऋकारादि धातु परे है **ऋच्छति**, पूर्व में है अ और पर में है ऋ। दोनों के स्थान पर वृद्धि अर्थात् **आ, ऐ, औ** की प्राप्ति हुई। दो के स्थान पर एक आदेश होना था किन्तु तीन-तीन आदेशों की

पररूपविधायकं विधिसूत्रम्

३८. एङि पररूपम् ६।१।९४॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति।

....

प्राप्ति हुई अर्थात् अनियम हुआ। **स्थानेऽन्तरतमः** इस सूत्र के नियमानुसार स्थान से मिलाने पर **प्र** के **अकार** का कण्ठस्थान और **ऋच्छति** के **ऋकार** का **मूर्धा** स्थान है। आदेशों में **कण्ठमूर्धा** स्थान वाला कोई भी नहीं है किन्तु केवल कण्ठस्थान वाला **आ** है तो यत्किञ्चित् तुल्यता (कण्ठस्थान मात्र की तुल्यता) को लेकर **आ** की प्राप्ति हुई तो **उरण् रपरः** से रपर करके **आर्** एवं **आल्** हुए। कण्ठमूर्धास्थान वाले स्थानी **अ** और **ऋ** के स्थान पर कण्ठमूर्धास्थान वाला ही **आर्** आदेश हुआ तो बना- **प्र्+आर्+च्छति**। प्र्+आर्=प्रार्, प्रार्+च्छति। हल् वर्ण के परे रहने पर **रेफ** का स्वभाव ही **ऊपर रहने** का है। अतः रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ, **प्रार्च्छति** सिद्ध हुआ।

संस्कृत में प्रयोगसिद्धिः- प्र+इच्छति इत्यवस्थायाम् **आद्गुणः** इतिसूत्रेण गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य **स्थानेऽन्तरतरः, उरण् रपरः** इतिसूत्रद्वयसहकारेण **उपसर्गादृति धातौ** इत्यनेन सूत्रेण वृद्धौ, **प्र्+आर्+च्छति** इति जाते वर्णसम्मेलने रेफस्योर्ध्वगमने च **प्रार्च्छति** इति रूपं सिद्धम्।

कृष्ण की कृपा के बाद वह श्रुति और स्मृतियों को भगवान् की आज्ञा मानकर उनका पालन करता हुआ वह भक्त अन्ततः **कृष्ण** के धाम को चला जाता है।

अभ्यासः-

(क) निम्नलिखित प्रयोगों में सूत्र लगाकर सन्धि करें-
अप+ऋच्छति। अव+ऋञ्जते। उप+ऋच्छति।

(ख) कितने और कौन-कौन से उपसर्ग (प्रादि) अजन्त और कौन-कौन से हलन्त हैं?

(ग) क्या **उपसर्गादृति धातौ** यह सूत्र **वृद्धिरेचि** का बाधक हो सकता है? यदि हो सकता है तो क्यों? और यदि नहीं हो सकता तो क्यों नहीं?

(घ) धातु से आप क्या समझते हैं?

(ङ) प्रादि **उपसर्ग** कब बनते हैं?

(च) **उपसर्ग-संज्ञा** के अतिरिक्त **प्रादि** की क्या संज्ञा होती है?

(छ) प्रादि अर्थ के वाचक हैं या द्योतक?

३८- एङि पररूपम्। एङि सप्तम्यन्तं, पररूपं प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में भी **एकः पूर्वपरयोः** इसका अधिकार आता है। **आद्गुणः** से **आत्** और **उपसर्गादृतिं धातौ** से **उपसर्गाद्** की अनुवृत्ति आती है। आत्-उपसर्गात् में **'आत्'** विशेषण पद है और **उपसर्गात्** विशेष्य पद है।

अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

कैसा उपसर्ग? **अवर्ण** अन्त में हो ऐसा उपसर्ग। **एङादौ** विशेषण है और **धातौ** विशेष्य है। कैसा धातु? एङ् प्रत्याहार आदि में हो ऐसा धातु। उसके परे रहने पर **पूर्व** और **पर** के स्थान पर, पर का जैसा रूप हो अर्थात् पर में जैसा वर्ण होता है उसी तरह का एक

टिसंज्ञाविधायकं विधिसूत्रम्

३९. अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्।

वार्तिकम्- **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्।** तच्च टेः।

शकन्धुः। कर्कन्धुः। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

....

ही वर्ण आदेश हो। **पूर्व** और **पर** वर्ण मिलकर पर जैसा वर्ण हो जाय, यही **पररूप** है अतः **अ** और **ए** (अ+ए) में पूर्ववर्ण **'अ'** तथा परवर्ण **'ए'** ये दोनों मिलकर परवर्ण **'ए'** ही बन जाते हैं। **अ** एवं **ए** ये दोनों अपना अस्तित्व मिटाकर दोनों के स्थान में पर में विद्यमान वर्ण के जैसे बन जाते हैं। ध्यान रहे कि **पररूप हमेशा दो वर्णों के स्थान पर एक आदेश के रूप में ही होता है।**

यह सूत्र **वृद्धिरेचि** का बाधक है।

प्रेजते। अत्यन्त चमकता है। **प्र+एजते** में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति होती है, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई। उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **एङि पररूपम्। अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।** यहाँ पर **अवर्णान्त उपसर्ग** है **प्र** और **एङादि धातु परे** है **एजते। पूर्व** में है **प्र** का **अ** और परे है **एजते** का **ए**। दोनों के स्थान पर परवर्ण **ए** ही हुआ, **प्र्+ए+जते** बना। वर्णसम्मेलन हुआ (प्र्+ए= प्रे) **प्रेजते** यह रूप सिद्ध हुआ। यहाँ कोई अनियम नहीं हुआ, क्योंकि अनियम तब होता है जब एक या दो के स्थान पर अनेक आदेशों की प्राप्ति होती है। यहाँ पर आदेश कहीं बाहर से नहीं आया। स्थानी में से ही आदेश हुआ और सूत्र ने यह भी निश्चित कर दिया कि पररूप ही यहाँ पर आदेश हो। अतः अनियम न होने के कारण **स्थानेऽन्तरतमः** आदि की आवश्यकता नहीं पड़ी।

जो कृष्णधाम को प्राप्त होता है, वह सदा चमकता ही रहता है।

उपोषति। जलता है। **उप+ओषति** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त हुआ। उसे बाधकर के **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई। उसे भी बाधकर **एङि पररूपम्** से पररूप हुआ, **उप्+ओ+षति** बना। वर्णसम्मेलन होने पर (**उप्+ओ=**) **उपोषति** सिद्ध हुआ। यहाँ पर अवर्णान्त उपसर्ग उप है और एङादि धातु परे है **ओषति**। पूर्व है पकारोत्तरवर्ती **अकार** और पर है **ओषति** का **ओकार**। पररूप होने पर पर दोनों के स्थान पर पूर्ववर्ण सदृश **ओ** ही बन गया- **उप्+ओ+षति।** वर्णसम्मेलन होकर **उपोषति** सिद्ध हुआ।

कृष्णकृपा को प्राप्त व्यक्ति के पाप जल जाते हैं और वह सोने की तरह निर्मल होता है।

अभ्यासः

(क) **प्रेजते, उपोषति** इन प्रयोगों को संस्कृत भाषा में साधकर दिखाइये।

(ख) प्रयोग सिद्ध करें-
प्र+एषयति। उप+एहि। अव+एजते। प्र+ओषति।

(ग) **न+एजते=नैजते। तव+ओषति=तवौषति। यमुना+ओघः=यमुनौघः** इन प्रयोगों में **पररूप** क्यों नहीं होता?

(घ) **वृद्धिरेचि** और **एङि पररूपम्** की तुलना कीजिये।

३९- अचोऽन्त्यादि टि। अन्ते भवः- अन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य स अन्त्यादि (बहुव्रीहिः)। अचः षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यादि प्रथमान्तं, टि प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, वह जिसके आदि में हो, वह समुदाय टिसंज्ञक होता है।

जहाँ **अनेक अच्** हो वहाँ **अन्त्य अच्** की और जहाँ **एक ही अच्** हो तो उसी **अच्** की, यदि वह किसी **हल् के आदि** में हो तो **हल् के साथ ही** उस **अन्त्य अच्** की **टिसंज्ञा** होती है। जैसे- ज्ञान में नकारोत्तरवर्ती **अकार** की और **मनस्** में **सकार** सहित **न** के उत्तरवर्ती **अकार** और **सकार** अर्थात् **अस्** की टिसंज्ञा हो जाती है। जहाँ एक ही अच् हो तो वह अन्त्य भी माना जाता है और आदि भी। एक ही को अन्त्य, आद्य और मध्यम मानने को **व्यपदेशिवद्भाव** कहा जाता है। जैसे **देवदत्तस्य एक एव पुत्रः, स एव ज्येष्ठः, स एव मध्यमः, स एव कनिष्ठः** अर्थात् देवदत्त का एक मात्र पुत्र है, चाहे उसे बड़ा समझो या मझला समझो अथवा छोटा समझो।

शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। यह वार्तिक है। **शकन्धु आदि गण में टिसंज्ञक पूर्व और पर के स्थान पर पररूप होता है।**

तच्च टेः= वह पररूप टि के स्थान पर होता है।

यह वार्तिक **पररूप** के प्रकरण में पढ़ा गया है। पररूप के प्रकरण में **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है। अतः इस वार्तिक में भी उसका अधिकार रहेगा। अतः यह वार्तिक भी **पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एक आदेश करता है।**

आकृतिगणोऽयम्। यह वाक्य न तो सूत्र है और न ही वार्तिक। यह तो वरदराजाचार्य जी हमें समझा रहे हैं कि यह जो शकन्धु आदि गण है, इसमें इतने ही शब्द आते हैं, ऐसा कोई निश्चित नहीं है। अतः जहाँ-जहाँ भी पररूपविधायक सूत्रों की प्राप्ति नहीं हो किन्तु पररूप हो गया हो तो उसे शकन्धु आदि गण का मान लेना अर्थात् आकृति को देखकर इस गण का समझ लेना चाहिए। जहाँ शब्दों की संख्या रख पाना कठिन हैं, वहाँ पर आचार्य आकृतिगण का व्यवहार करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि **कार्यों को देखकर उस गण का समझना ही आकृतिगण है।**

शकन्धुः। शक नामक देश का कूप। **शक+अन्धुः** में पहले **अचोऽन्त्यादि टि** से टिसंज्ञा करते हैं। जैसे- **शक** में अच् हैं- **श** का **अकार** और **क** का **अकार**, अन्त्य अच् है **क** का **अकार**, वह अन्य किसी के आदि में नहीं है, अपितु अपने ही आदि में है। अतः **क** के **अकार** की टिसंज्ञा हो गई। इसके बाद **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ प्राप्त था। उसे भी बाधकर **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** से पररूप होता है। पररूप **टि** को लेकर के होता है, अतः टिसंज्ञा की आवश्यकता है। **शकन्धुः** शब्द शकन्धु आदि गण में आता ही है। **टि** है **क** में **अकार**, वह पूर्व में है और पर में **अन्धुः** का **अकार** है। इन दोनों के स्थान पर **पररूप** होगा। **पररूप** का तात्पर्य **पूर्व और पर के स्थान पर, पर का जैसा वर्ण हो जाना।** यहाँ पर पूर्व में भी **अकार** है और पर में भी **अकार** है। अतः दोनों **अकारों** के स्थान पर एक ही **अकार** हुआ- **शक्+अ+न्धुः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **शकन्धुः** सिद्ध हुआ।

जो कृष्ण की उपासना नहीं करता और उनको जानने की चेष्टा नहीं करता, वह कूप अर्थात् एक अन्धकार में नीचे पतन को प्राप्त होता है।

परपरूपविधायकं विधिसूत्रम्

४०. ओमाङोश्च ६।१।९५॥

ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्।
शिवायों नमः। शिव एहि।

....

कर्कन्धुः। कर्क नामक कोई राजा, उसका कूप। **कर्क+अन्धुः** में पहले **अचोऽन्त्यादि टि** से टिसंज्ञा करते हैं। जैसे- **कर्क** में अच् हैं- **क** का **अकार** और **क** का अकार, अन्त्य अच् है द्वितीय **क** का **अकार**, वह अन्य किसी के आदि में नहीं है अपितु अपने ही आदि में है। अतः द्वितीय **क** के **अकार** की टिसंज्ञा हो गई। इसके वाद **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ प्राप्त था। उसे भी बाधकर **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** से पररूप होता है। पररूप **टि** को लेकर के होता है, अतः टिसंज्ञा की आवश्यकता है। **कर्कन्धुः** यह शब्द **शकन्धु आदि गण** में आता है और **टि** है **क** में **अकार**, वह पूर्व में है और पर में **अन्धुः** का **अकार** है। इन दोनों के स्थान पर पररूप होगा। पररूप का तात्पर्य पूर्व और पर के स्थान मिलकर पर का जैसा वर्ण हो जाना। यहाँ पर पूर्व में भी अकार है और पर में भी अकार है। अतः दोनों के स्थान पर एक **अकार** हुआ- **कर्क्+अ+न्धुः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **कर्कन्धुः** सिद्ध हुआ।

राजाओं की तरह धन, मान मिलने पर कूप के प्रतीक अज्ञानान्धकार में नहीं रहना चाहिए, अपितु ईश्वर की उपासना, ज्ञान आदि के द्वारा आत्मकल्याण करना चाहिए।

मनीषा। बुद्धि। **मनस्+ईषा** है। **अचोऽन्त्यादि टि** से **मनस्** में **अस्** की टिसंज्ञा हो गई, वह ऐसे कि **अच्** है **म** का **अकार** और **न** का **अकार**। इसमें **अन्त्य अच्** है **न** का अकार, वह अस् इस समुदाय के **आदि** में है। अतः **सकार** सहित **अकार** अर्थात् **अस्** की **टिसंज्ञा** हो गई। यहाँ पर टिसंज्ञा का फल **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** से पररूप करना है। अतः **टि** को लेकर **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **पररूप एकादेश** होगा। पूर्व में टिसंज्ञक है **अस्** और पर में **ईषा** का ईकार है। इन दोनों के स्थान पर अर्थात् **अस्** और **ई** के स्थान पर, परवर्ण का जैसा **ई** ही हो गया, **मन्+ई+षा** बना। वर्णसम्मेलन होकर **मनीषा** सिद्ध हुआ।

मनीषा यह भगवान् के द्वारा प्रदत्त बुद्धि है। इसका सदुपयोग करके कूपमण्डुक मत वनना अपितु उस सर्वशक्तिमान् को समझने की चेष्टा करना।

मार्तण्डः। सूर्य। **मार्त+अण्डः** में शकन्धु की तरह टिसंज्ञा और पररूप करके **मार्तण्डः** सिद्ध करें।

यदि बुद्धि को सही मार्ग में लगायेंगे तो अन्दर ही अन्दर सूर्य की तरह ज्ञान रूपी प्रकाश फैलने लगेगा।

४०- **ओमाङोश्च**। ओम् च आङ् च ओमाङौ, तयोः=ओमाङोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। ओमाङोः सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **आद्गुणः** से **आत्** और **एङि पररूपम्** से **पररूपम्** की अनुवृत्ति आ रही है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार भी है।

अवर्ण से ओम् और आङ् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

अतिदेशसूत्रम्

४१. अन्तादिवच्च ६।१।८५॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत्। शिवेहि।

....

ओम् यह अव्यय है और **आङ्** प्रादि(उपसर्ग) है। यह सूत्र, **वृद्धिरेचि** और **अकः सवर्णे दीर्घः** का बाधक है।

शिवायों नमः। ओं नमः शिवाय, शिव को नमस्कार है। **शिवाय+ओं नमः** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर **वृद्धिरेचि** से वृद्धि प्राप्त हुई, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **ओमाङोश्च**। अवर्ण है **शिवाय** में यकारोत्तरवर्ती **अकार** और ओम् परे है **ओम्**। पूर्व में है **शिवाय** का **अकार** और पर में है **ओं नमः** का **ओकार**। दोनों के स्थान पर पररूप हुआ तो पर में **ओ** है, अतः **अकार** और **ओकार** के स्थान पर **ओ** ही बन गया, **शिवाय्+ओं नमः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **शिवायों नमः** सिद्ध हुआ।

ईश्वर के प्रणाम से **शिव** अर्थात् कल्याण होता है।

४१- अन्तादिवच्च। अन्तश्च आदिश्च- अन्तादी (द्वन्द्वः), अन्तादिभ्यां तुल्यम्=अन्तादिवत्। अन्तादिवत् अव्ययपदं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

पूर्व और पर के स्थान पर जो एकादेश होता है, वह पूर्ववर्ती वर्णसमुदाय के लिए उसके अन्त्य के समान होता है और परवर्ती वर्णसमुदाय के लिए उसी के आदि के समान होता है।

जैसे एकादेश पूर्व और पर के स्थान पर होता है, उस एकादेश को अन्त या आदि मानना पड़े तो कैसे माना जाय, क्योंकि एकादेश होकर न तो पूर्व का रह गया है और न ही पर का अर्थात् अखण्ड है। एकादेश हो जाने के बाद यदि पुनः सन्धि आदि करनी हो तो उस एकादेश को पूर्व में स्थित माना जाय अथवा पर में स्थित? दूसरी बात एकादेश होने से पूर्व की स्थिति के किसी वर्ण विशेष को मानकर कार्य करना हो उस एकादेश को पूर्व का माना जाय या पर का। इस सन्देह को दूर करता है यह सूत्र। इसका कहना है कि जो एकादेश हुआ है वह यद्यपि अखण्ड है तथापि पूर्व घटित कार्य के लिए उसे अन्त के समान माना जाय और पर घटित कार्य के लिए आदि के समान माना जाय अर्थात् एकादेश होने पर उसे आदि भी माना जाता है और अन्त भी।

इस सूत्र को अतिदेश सूत्र कहते हैं क्योंकि जो वैसा नहीं है उसको वैसा मान लेना ही अतिदेश है।

परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः। यह परिभाषा है। सूत्रों में **पूर्वसूत्र** की अपेक्षा **परसूत्र** बलवान् होता है। **पूर्वसूत्र** और **परसूत्र** की अपेक्षा **नित्यसूत्र** बलवान् होता है, **पूर्व**, **पर**, **नित्यसूत्रों** की अपेक्षा **अन्तरङ्गसूत्र** बलवान् होता है और **पूर्व**, **पर**, **नित्य**, **अन्तरङ्गसूत्रों** की अपेक्षा **अपवादसूत्र** बलवान् होता है। अर्थात् **पूर्व**, **पर**, **नित्य**, **अन्तरङ्ग** और **अपवाद** इन सूत्रों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के बलवान होते हैं। जो सूत्र अपेक्षाकृत बलवान् होता है, वह पहले प्रवृत्त होता है। **पूर्व** और **पर** का व्यवहार इस तरह से समझें- **अष्टाध्यायी** के क्रम से जो पहले पठित है वह पूर्वसूत्र और तदपेक्षया जो बाद में पठित है वह उत्तरसूत्र है।

सवर्णदीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

४२. अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१॥

अकः सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्।

दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतृकारः।

....

कृताकृतप्रसङ्गी नित्यः। किसी सूत्र के लगने के पूर्व भी वह सूत्र लग सकता है और उस सूत्र के लगने के बाद भी लग सकता है अर्थात् पूर्वस्थिति में भी लगने की क्षमता रखता है और परस्थिति में भी लगने की क्षमता रखता है। अतः उसे **नित्य** कहते हैं।

अन्तरङ्ग को जानने के लिए अनेक नियम हैं। जैसे कि **धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्, अन्यत्कार्यं बहिरङ्गम्। अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्। पूर्वोपस्थितिनिमित्तकमन्तरङ्गम्** आदि आदि। अर्थात् **धातु** और **उपसर्ग** के बीच में होने वाला कार्य अन्तरंग होता है। कम अपेक्षा करने वाला कार्य अन्तरंग होता है। आगे की अपेक्षा पहले के वर्णों के विषय में होने वाला कार्य अन्तरंग होता है, आदि आदि।

अपवाद। निरवकाशो विधिरपवादः। ज्यादा जगहों पर लगने वाले सूत्रों की अपेक्षा कम जगह पर लगने वाला निरवकाश सूत्र **अपवाद** सूत्र कहलाता है। जैसे कि **आद्गुणः** और **वृद्धिरेचि** में **आद्गुणः** अधिक जगहों पर लगता है और **वृद्धिरेचि** कम जगहों पर लगता है। अतः **वृद्धिरेचि** यह सूत्र **आद्गुणः** की अपेक्षा **निरवकाश** है, अतः यह **अपवादसूत्र** है।

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। यह परिभाषा है। यदि **बहिरङ्ग** और **अन्तरङ्ग कार्य** एक साथ प्रवृत्त हो रहे हों तो वहाँ पर **बहिरङ्गकार्य** असिद्ध होकर हट जाता है और **अन्तरङ्गकार्य** होने लगता है।

शिवेहि। हे शिव यहाँ आइये। **शिव+आ+इहि** ऐसी स्थिति है। **शिव+आ** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ प्राप्त है और **आ+इहि** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त है। **धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होने के कारण बलवान् है**, अतः उपसर्ग **आ** और धातु **इहि** में पहले गुण होकर आ+इहि=**एहि** बना। इस तरह **शिव+एहि** बन गया है। **एहि** का **ए** यह **आ** और **इ** के स्थान पर **एकादेश** होकर बना हुआ है। उस **एकार** को **अन्तादिवच्च** से **पूर्वान्तवद्भाव** हो जाता है अर्थात् एकादेश होने से पहले पूर्व का अन्त **आ** और पर का आदि **इ** था। अब हमें **ए** को **आ** मानकर **ओमाङोश्च** से पररूप करना है तो **ए** को **आ** भी माना जा सकता है और **इ** भी। अतः पूवाश्रित कार्य करने में अन्त के समान हो गया। **आ+इ** में अन्त में **आ** था। **आ** यह आङ् है, उसे मानकर होने वाला पररूप हो गया। पररूप पूर्व और पर के स्थान पर होता है। **शिव+एहि** में पूर्व में है **शिव** का **अकार** और पर में है **एहि** का **एकार**। दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश **ए** हो गया। **शिव्+ए+हि** बना। वर्णसम्मेलन होकर **शिवेहि** सिद्ध हुआ। यदि **अन्तादिवच्च** यह सूत्र न होता तो **शिव+एहि** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि होकर **शिवैहि** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध हो जाता। इस सूत्र के कारण **वृद्धिरेचि को ओमाङोश्च बाध देता है।**

४२- अकः सवर्णे दीर्घः। अकः प्रथमान्तं, सवर्णे सप्तम्यन्तं, दीर्घः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति और **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

अक् से सवर्ण अच् के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर दीर्घसंज्ञक एकादेश होता है।

अक् प्रत्याहार से सवर्ण **अच्** अर्थात् समानजातीय **अच्** परे होना चाहिए। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार होने से **पूर्व और पर के स्थान पर** यह अर्थ बना। स्थानी दो होंगे और आदेश दीर्घसंज्ञक एक ही होगा। **अकार** के सवर्णी अठारह भेद वाले **अकार** ही हैं। इसी प्रकार इकार के सवर्णी भी अठारह प्रकार के **इकार** ही लिये जाते हैं और **उकार** के सवर्णी **उकार** एवं **ऋकार** के सवर्णी भी अठारह प्रकार के **ऋकार** और बारह प्रकार के **ऌकार** को लेकर **तीस** प्रकार के हैं। अतः **अकार** से **अकार** के परे रहने पर, **इकार** से **इकार** के परे रहने पर, **उकार** से **उकार** के परे रहने पर, **ऋकार** से **ऋकार** और **ऌकार** के परे रहने यह सूत्र **पूर्व** और **पर** के स्थान पर दीर्घ एकादेश करता है। जैसे- अ+अ=**आ**, इ+इ=**ई**, उ+उ=ऊ, ऋ+ऋ=**ॠ** आदि।

यह सूत्र **अ+अ** की स्थिति में **आद्गुणः** का बाधक है। **इ+इ, उ+उ, ऋ+ऋ**, की स्थिति में **इको यणचि** का बाधक है। ध्यान रहे कि यह सूत्र पूर्व में **अक्** प्रत्याहार के वर्ण और पर में उनके ही सवर्ण हों, तभी लगता है। अक् प्रत्याहार में **अ, इ, उ, ऋ, ऌ**, ये पाँच वर्ण आते हैं और **ऌ** का दीर्घाक्षर न होने के कारण जब **ऌ** के लिए दीर्घादेश का विधान होता है तब **ऌ** का सवर्णी **ॠ** ही दीर्घाक्षर हो जाता है।

जब इस सूत्र से दीर्घसंज्ञक एकादेश की प्राप्ति होती है तो सभी दीर्घ **आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ, औ** ये सभी प्राप्त होते हैं और **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान से साम्य सवर्णदीर्घ ही हो, ऐसा नियम प्राप्त होता है।

दैत्यारिः। दैत्यों के शत्रु- भगवान् विष्णु। **दैत्य+अरिः** इस स्थिति में **आद्गुणः** से गुण की प्राप्ति थी, उसे बाधकर सूत्र लगा- **अकः सवर्णे दीर्घः**। **अक्** है **'दैत्य'** में यकारोत्तरवर्ती **अकार** और सवर्ण अच् परे है- **अरिः** का **अकार**। पूर्व और पर दोनों अकार के स्थान पर अकार का ही दीर्घ वर्ण आकार आदेश के रूप में हुआ- **दैत्य्+आ+रिः** बना, **वर्ण सम्मेलन** हुआ **दैत्यारिः** रूप सिद्ध हुआ।

संस्कृत में- **दैत्य+अरिः** इत्यत्र **संहितासंज्ञायाम्, आद्गुणः** इत्यनेन गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य **स्थानेऽन्तरतमः** इतिपरिभाषासूत्रसहकारेण **अकः सवर्णे दीर्घः** इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने सवर्णदीर्घैकादेशे **दैत्य्+आ+रिः** इति जाते वर्णसम्मेलने **दैत्यारिः** इति रूपं सिद्धम्।

श्रीशः। लक्ष्मी के पति। **श्री+ईशः** में **इको यणचि** से यण् प्राप्त था, उसे बाधकर के **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **अकः सवर्णे दीर्घः** से सवर्णदीर्घ एकादेश होकर **श्+ई+शः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **श्रीशः** सिद्ध हुआ।

विष्णूदयः। विष्णु का उदयः। **विष्णु+उदयः** में अक् है **'विष्णु'** का **उकार** और सवर्ण अच् परे है **'उदयः'** का **उकार**। दोनों के स्थान पर दीर्घ एक ही आदेश **ऊकार** हुआ। **विष्ण्+ऊ+दयः** बना। वर्णसम्मेलन में **(ष्ण्+ऊ=ष्णू) विष्णूदयः** सिद्ध हुआ।

होतॄकारः। होता का ऋकार। **होतृ+ऋकारः** में अक् है **होतृ** में **ऋकार** और सवर्ण अच् परे है- **ऋकारः** का **ऋ**। दोनों ऋकारों के स्थान पर दीर्घ रूप ॠकार एकादेश हुआ। **होत्+ॠ+कारः** बना, वर्णसम्मेलन होने पर **होतॄकारः** सिद्ध हुआ।

ऌकार के विषय में पहले भी बताया जा चुका है कि इसका दीर्घ वर्ण नहीं

पूर्वरूपविधायकं विधिसूत्रम्

४३. एङः पदान्तादति ६।१।१०९॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्।

हरेऽव। विष्णोऽव।

....

होता। इसलिए दीर्घ का विधान होने पर उसका सवर्णी ॠ ही हो जाता है। वैसे लृकार का उदाहरण अत्यन्त अप्रसिद्ध है। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में इसका उदाहरण मिलता है, यहाँ नहीं दिया गया है।

वह **कृष्ण** भक्तों का दु:खनिवारण करता है। अत: **दैत्यों** का विनाश करता है। वह लक्ष्मीपति है, अत: प्रभूत धन देता है। वह सर्वत्र उदित रहता है, सूर्य की तरह प्रकाश बिखेरता है अर्थात् ज्ञान के द्वारा अज्ञानान्धकार को हटाता है और उसे प्राप्त करने के यज्ञानुष्ठान अनेक उपाय हैं।

अभ्यासः

(क) **श्रीशः, विष्णूदयः** और **होतृकारः** इन प्रयोगों को संस्कृत भाषा में भी सिद्ध करें।

(ख) निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करें-
देव+आलयः। विद्या+अर्थी। गिरि+ईशः। भानु+उदयः। परम+अर्थः। विद्या+आनन्दः। कर+अग्रम्। वेद+अभ्यासः। राम+आदिः। तरु+उपेतः। तुल्य+आस्यम्। पितृ+ऋणम्।

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों की सन्धिविच्छेद पूर्वक सिद्धि करें-
भूमीशः। हरीशः। यदासीत्। प्रतीक्षते। फलानीमानी। कमलाकरः। महीन्द्रः। अल्पापराधः। कवीश्वरः। रोगातुरः। मुनीन्द्रः। अस्तीदम्। रसास्वादः। गुरूत्तमः।

(घ) **अकः सवर्णे दीर्घः** यह सूत्र कैसी स्थिति में किस-किस सूत्र का अपवाद है?

(ङ) **अकः सवर्णे दीर्घः** इस सूत्र में **पूर्व और पर के स्थान पर एकादेश** इतना अर्थ कहाँ से आता है?

(च) अक् प्रत्याहार के प्रत्येक वर्णों के सवर्णी कौन-कौन से वर्ण हैं?

४३- **एङः पदान्तादति**। एङः पञ्चम्यन्तं, पदान्तात् पञ्चम्यन्तम्, अति सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **अमि पूर्वः** से **पूर्वः** की अनुवृत्ति आती है। **एकः पूर्वपरयोः** का अधिकार है।

पदान्त एङ् से ह्रस्व अकार के परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एक आदेश होता है।

जैसे **एङि पररूपम्** यह सूत्र **पररूप** करता है उसी प्रकार **एङः पदान्तादति** यह सूत्र **पूर्वरूप** करता है। **पररूप** में **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **परवर्णसदृश** वर्ण हो जाता है और इसके विपरीत **पूर्वरूप** में **पूर्व** और **परवर्ण** के स्थान पर **पूर्ववर्णसदृश** वर्ण होता है। दोनों में पूर्व और पर के स्थान पर एकादेश ही होता है।

यह सूत्र **पदान्त एङ** से केवल **ह्रस्व अकार** के परे रहने पर **पूर्व** और **पर** के स्थान पर **पूर्वरूप एकादेश** करता है। जैसे- **ए+अ** में पूर्व में **ए** है और पर में **अ**। जब पूर्वरूप हो जायेगा तो **ए** और **अ** दोनों के स्थान पर पूर्व का जैसा वर्ण केवल **ए** ही होता है। सूत्र के अनुसार पूर्व में **पद** के अन्त में विद्यमान **एङ्** हो और **पर** में केवल **ह्रस्व** अकार

हो तो वहाँ पूर्वरूप का विधान होना चाहिए। इसके द्वारा पूर्वरूप होने पर अकार के स्थान पर 'ऽ' इस चिह्न को लगाने की परम्परा रही है जिसे **अवग्रह** या **खण्डाकार** कहते हैं। यद्यपि अवग्रह चिह्न (खण्डाकार) का विधान कोई सूत्र नहीं करता फिर भी वह **पूर्व अकार** का संकेत देता हुआ यह चिह्न संस्कृत भाषा में बहुत प्रचलित है। इस चिह्न का प्रयोग करें या न करें, इसमें आप स्वतन्त्र हैं अर्थात् कोई अनिवार्यता नहीं है।

पूर्वरूप यह अर्थ इस सूत्र में **अमि पूर्वः** इस सूत्र से **पूर्वः** की अनुवृत्ति से प्राप्त हुआ है। यह सूत्र **एचोऽयवायावः** का बाधक है।

हरेऽव। हे हरे! रक्षा करें। **हरे+अव** इस स्थिति में संहितासंज्ञा के बाद **एचोऽयवायावः** सूत्र से **अय्** आदेश की प्राप्ति हुई और उसे बाधकर सूत्र लगा- **एङः पदान्तादति**। पदान्त एङ् से ह्रस्व अकार के परे रहने पर पूर्व-पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है। पदान्त **एङ्** है **हरे** का **एकार** और **ह्रस्व** अकार परे है **अव** का अकार। पूर्व में है **हरे** का **एकार** और पर में है **अव** का **अकार**। एकार और अकार के स्थान पर जब पूर्वरूप एकादेश हुआ तो **एकार** ही हुआ- **हरेव** बना। परम्परा के अनुसार अकार की जगह 'ऽ' यह चिह्न लगाया गया- **हरेऽव**।

विष्णोऽव। हे विष्णो! रक्षा करें। **विष्णो+अव** इस स्थिति में संहितासंज्ञा के बाद **एचोऽयवायावः** इस सूत्र से **अव्** आदेश की प्राप्ति हुई और उसे बाधकर सूत्र लगा- **एङः पदान्तादति**। पदान्त एङ् से ह्रस्व अकार के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है। पदान्त **एङ्** है **विष्णो** का **ओकार** और **ह्रस्व** अकार परे है **अव** का अकार। पूर्व में है **विष्णो** का **ओकार** और पर में है **अव** का **अकार**। इस तरह **ओकार** और **अकार** के स्थान पर जब पूर्वरूप एकादेश हुआ तो **ओकार** ही हुआ- **विष्णोव** बना। परम्परा के अनुसार अकार की जगह 'ऽ' यह चिह्न लगाया गया- **विष्णोऽव**।

हरे! विष्णो! ये सम्बोधन है और अव यह क्रियापद है। सुबन्त होने के कारण हरे और विष्णो पद हैं, और एकार और ओकार पद के अन्त में हैं।

सर्वरक्षक **विष्णु** ही हो सकता है, क्योंकि वह सृष्टि, पालन और संहार करने वाला होते हुए भक्तवश्य भी है। अतः अपनी रक्षा के लिए जब भी भक्तजन पुकारते हैं, वह दयालु वहाँ पहुँच जाता है।

अभ्यासः

(क) हरेऽव, विष्णोऽव को संस्कृत में सिद्ध करें।

(ख) यदि **एङः पदान्तादति** सूत्र न होता तो **हरे+अव**, **विष्णो+अव** में कैसे रूप बनते?

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिविच्छेद करके सिद्धि करें-
सुन्दरेऽम्बरे। तेऽत्र। संसारेऽधुना। आधारोऽधिकरणम्। नमोऽस्तु। कोऽसि। दासोऽहम्। स्थानेऽन्तरतमः। वनेऽस्मिन्। विशेषेऽनुरक्तः।

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
नमो+अस्तु। एचो+अयवायावः। को+अपि। संसारे+अत्र। गुरवे+अदाम्। वायो+अत्र। ब्रह्मणे+अस्मै। ततो+अन्यत्र। वने+अस्मिन्। अग्ने+अत्र। मार्गेऽन्यः। कोऽपि।

(घ) यह सूत्र किस सूत्र का बाधक है?

प्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

४४. सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते।

गोअग्रम्। गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम्? चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम्? गोः।

....

४४- **सर्वत्र विभाषा गोः**। सर्वत्र त्रल्प्रत्ययान्तम् अव्ययं, विभाषा प्रथमान्तं, गोः षठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **एङः पदान्तादति** से **पदान्तात्** को सप्तमी विभक्ति में विपरिणाम करके **पदान्ते** तथा **एङः** एवं **अति** की और **प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे** से **प्रकृत्या** की अनुवृत्ति आती है।

लौकिक एवं वैदिक प्रयोगों में एङन्त गो शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव होता है पदान्त में।

विकल्प यह अर्थ **विभाषा** इस शब्द से निकलता है क्योंकि **न वेति विभाषा** इस सूत्र से **निषेध** और **विकल्प** की विभाषासंज्ञा होती है। **प्रकृत्या** का अर्थ प्रकृतिभाव है अर्थात् प्रकृति जैसी थी उसी रूप में रहना, सन्धि होकर कोई विकृति या परिवर्तन न होना, सन्धिविच्छेद के समय जो स्थिति थी, उसी स्थिति में रहना, मूल अवस्था में रहना। अन्य सन्धियों को रोककर प्रकृति में रहना। इस सूत्र में पहले से **यजुषि**(यजुर्वेद में) की अनुवृत्ति आ रही थी, उसे रोकने के लिए **सर्वत्र** (सभी जगह अर्थात् लौकिक और वैदिक प्रयोगों में) कहना पड़ा।

गोअग्रम्। गोऽग्रम्। गाय का अग्रभाग। **गो+अग्रम्** इस स्थिति में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश प्राप्त था। उसे बाधकर **एङः पदान्तादति** से **पूर्वरूप** प्राप्त था, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **सर्वत्र विभाषा गोः**। **गो** यह पद है और पदान्त ओकार है **गो** का ओकार। इस तरह **पदान्त** में **एङन्त गो** का ओकार है और उससे **ह्रस्व** अकार परे है **अग्रम्** का **अकार**। अतः **प्रकृतिभाव** हुआ। प्रकृतिभाव माने जैसी स्थिति थी, उसी रूप में रहना। **गो+अग्रम्** ऐसा ही था **गोअग्रम्** ऐसा ही रह गया। यह कार्य विकल्प से होता है। प्रकृतिभाव न होने के पक्ष में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप होकर खण्डकार(ऽ) हो गया- **गोऽग्रम्**। प्रकृतिभाव न होने के पक्ष में **अवङ् स्फोटायनस्य** से अवङ् आदेश होकर **गवाग्रम्** भी बनता है, सो आगे बतायेंगे। यहाँ पर **गवाम् अग्रम्** लौकिक विग्रह और **गो+आम् अग्र+सु** अलौकिक विग्रह में समास करके विभक्ति का लुक् हुआ है। उस लुप्त विभक्ति को मानकर **गो** में पदत्व विद्यमान है।

एङन्तस्य किम्? चित्रग्वग्रम्। यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि **सर्वत्र विभाषा गोः** इस सूत्र में **एङन्तस्य** की अनुवृत्ति क्यों लायी गई अर्थात् **एङन्तस्य** यह पद क्यों पढ़ा गया? न पढ़ते तो सूत्र का अर्थ होता- **लोक और वेद में गो-शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव हो पदान्त में।** ऐसा अर्थ होने पर **चित्रगु+अग्रम्** इस जगह पर भी प्रकृतिभाव होने लगेगा क्योंकि **चित्रा गावो यस्य, चित्रा जस् गो जस्** में समास होकर **चित्रा** को पुंवद्भाव और **गो** को ह्रस्व करके **चित्रगु** बना है। अतः **गो शब्द** है ही। सूत्र में **एङन्तस्य** न पढ़ने पर यहाँ भी सूत्र लग जायेगा और प्रकृतिभाव होने से **चित्रगुअग्रम्** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होगा। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए सूत्र में **एङन्तस्य** जोड़ा गया। इससे जहाँ

सर्वादेशविधानार्थं परिभाषासूत्रम्

४५. अनेकाल् शित्सर्वस्य १।१।५५।।

इति प्राप्ते।

अन्त्यादेशविधानार्थं परिभाषासूत्रम्

४६. ङिच्च १।१।५३।।

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

....

एङन्त मिलेगा, वहीं पर ही प्रकृतिभाव होगा, अन्यत्र नहीं। अतः **चित्रगु+अग्रम्** में एङन्त न होने से प्रकृतिभाव नहीं हुआ, **इको यणचि** से **यण्** होकर **चित्रग्वग्रम्** सिद्ध हुआ।

पदान्ते किम्? गोः। यहाँ यह प्रश्न करते हैं कि **सर्वत्र विभाषा गोः** इस सूत्र में **पदान्ते** की अनुवृत्ति क्यों लायी गई अर्थात् **पदान्ते** यह पद क्यों पढ़ा? न पढ़ते तो सूत्र का अर्थ होता- **लोक और वेद में एङन्त गो-शब्द को विकल्प से प्रकृतिभाव हो।** ऐसा अर्थ होने पर **गो+अस्**(षष्ठी विभक्ति के ङस् वाला अस्) इस जगह पर भी प्रकृतिभाव होने लगता क्योंकि **पदान्ते** इस पद के अभाव में सूत्र पदान्त, अपदान्त दोनों जगह कार्य करना। **पदान्ते** कहने से **गो+अस्** में केवल **गो** में पदत्व न होने के कारण **गो** का ओकर पदान्त नहीं है। **सुप्तिङन्तं पदम्** इस सूत्र से **गो+अस्** इस समुदाय की पदसंज्ञा होती है, केवल **गो** की नहीं। अतः प्रकृतिभाव नहीं हुआ। **पदान्ते** इस पद के अभाव में तो प्रकृतिभाव होकर **गोअस्** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होता। उक्त अनिष्ट रूप के निवारण के लिए सूत्र में **पदान्ते** यह पद पढ़ा गया। जिससे **गो+अस्** में प्रकृतिभाव न हुआ अपितु पूर्वरूप होकर सकार का रुत्वविसर्ग होने से **गोः** ऐसा रूप सिद्ध हुआ।

४५- **अनेकाल्शित्सर्वस्य।** न एकः अनेकः(नञ्तत्पुरुषसमास)। अनेकः अल् यस्य स अनेकाल्(बहुव्रीहिसमासः) अनेकाल् प्रथमान्तं, शित् प्रथमान्तं, सर्वस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

अनेक अल् वाला आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर होते हैं।

अनेक+अल्=अनेकाल्। जिस आदेश में अनेक अर्थात् एक से अधिक अल् हों उसे **अनेकाल्** कहा जायेगा। जिस आदेश में **शकार** की इत्संज्ञा होगी उसे **शित्** कहा जायेगा। जब किसी अङ्ग आदि के स्थान पर किसी सूत्र से आदेश का विधान किया जाता है और उसमें स्पष्टतया यह निर्देश नहीं किया गया है कि आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो या स्थानी के अन्तिम-वर्ण या आदि-वर्ण के स्थान पर हो। ऐसा अनियम होने पर यह सूत्र परिभाषा बनकर वहाँ पर नियम करता है कि **यदि आदेश अनेक अल् वाला या शित् हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर ही होता है।**

यह सूत्र **अलोऽन्त्यस्य** सूत्र का अपवाद है जो केवल **अन्त्य** के स्थान पर आदेश होने का विधान करता है।

४६ -**ङिच्च।** ङित् प्रथमान्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अलोऽन्त्यस्य** से **अन्त्यस्य** की अनुवृत्ति आती है।

ङित् आदेश अनेकाल् होने पर भी अन्त्य के ही स्थान पर होता है।

अवङ्-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

४७. अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३॥

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाऽचि।

गवाग्रम्, गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? गवि।

....

यह सूत्र **अनेकाल् शित्सर्वस्य** का बाधक है। आदेश यदि **अनेकाल्** भी हो और **ङित्** भी हो तो अर्थात् आदेश में **ङकार** की इत्संज्ञा हो रही हो तो भी वह आदेश सभी के स्थान पर न होकर केवल **अन्त्य अल् वर्ण के स्थान** पर ही होता है अर्थात् स्थानी में जो अन्त्य-वर्ण, उसीके स्थान पर होता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि आदेश अनेकाल् हो या न हो, यदि ङित् है तो अन्त्य के स्थान पर होगा एवं अङित् अनेकाल् और शित् आदेश **अनेकाल् शित् सर्वस्य** के अनुसार सभी के स्थान पर होगा।

४७- अवङ् स्फोटायनस्य। अवङ् प्रथमान्तं, स्फोटायनस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **एङः पदान्तादति** से एङः और विभक्ति-विपरिमाण करके **पदान्तस्य** की, **इको यणचि** से **अचि** की और **सर्वत्र विभाषा गोः** से **गोः** की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त में जो एङ्, तदन्त जो गो-शब्द, इसको अच् के परे होने पर विकल्प से अवङ् आदेश होता है।

स्फोटायन नामक प्राचीन आचार्य के मत में **अवङ्** का होना और अन्य आचार्यों के मत में न होना, यही विकल्प होना चाहिए था किन्तु **सर्वत्र विभाषा गोः** से **विभाषा** के आने के कारण स्वतः विकल्प सिद्ध है। अतः यहाँ पर **स्फोटायन** का पठन विकल्प के लिए नहीं है अपितु नाम लेकर **पाणिनि जी ने स्फोटायन** नामक आचार्य का आदर किया है।

अवङ् में **ङकार** की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल **अव** ही बचता है। ङकार की इत्संज्ञा होने के कारण यह आदेश ङित् है। अतः अन्त्य वर्ण **गो** के **ओकार** के स्थान पर आदेश होकर अर्थात् **ओकार** को हटाकर बैठता है।

गवाग्रम्। गोऽग्रम्। गाय का अग्रभाग। **गवाम् अग्रम्(** गो+आम्+अग्रम्) में समास होकर विभक्ति का लोप होकर के **गो+अग्रम्** ऐसी स्थिति है। **एङः पदान्तादति** से **पूर्वरूप** प्राप्त था, उसे वाधकर के **सर्वत्र विभाषा गोः** से प्रकृतिभाव प्राप्त था, उसे भी बाधकर सूत्र लगा- **अवङ् स्फोटायनस्य।** आम् विभक्ति का लुक् होने पर भी भूतपूर्व विभक्ति के आश्रयण से **गो** यह पद है और **पदान्त** है **गो** का ओकार। इस तरह पदान्त में **एङन्त** गो शब्द का **ओ** है और उससे **अच्** परे है है **अग्रम्** का **अकार।** **ङकार** की इत्संज्ञा होने के कारण **अवङ्** आदेश **ङित्** है। अतः **ङिच्च** के नियम से अन्त्य वर्ण **ओकार** के स्थान पर आदेश हुआ। **ग्+अव+अग्रम्** बना। **ग्+अव** में वर्णसम्मेलन होकर **गव** बना। **गव+अग्रम्** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ होकर **गवाग्रम्** सिद्ध हुआ। यह सूत्र विकल्प से अवङ् आदेश करता है। **अवङ्** न होने के पक्ष में **सर्वत्र विभाषा गोः** से विकल्प से प्रकृतिभाव हुआ- **गो अग्रम्** ही रह गया। उक्त प्रकृतिभाव विकल्प से हुआ है। न होने के पक्ष में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप हो खण्डकार(ऽ) होकर **गोऽग्रम्।** इस तरह तीन रूप सिद्ध हुए। **गवाग्रम्, गोअग्रम्, गोऽग्रम्।**

अवङ्-आदेशविधायकं विधिसूत्रम्

४८. इन्द्रे च ६।१।१२४॥

गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

प्लुतादेशविधायकं विधिसूत्रम्

४९. दूराद्धूते च ८।२।८४॥

दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

....

पदान्ते किम्? गवि। अब प्रश्न करते हैं कि **अवङ् स्फोटायनस्य** में **पदान्ते** की अनुवृत्ति न लाते तो क्या होता? उत्तर देते हैं कि यदि **पदान्ते** न होता तो यह सूत्र पदान्त, अपदान्त दोनों जगहों पर अवङ् आदेश करता। पदान्त में करना तो अभीष्ट है किन्तु अपदान्त में करना अभीष्ट नहीं है। **गवि** यह पूरा पद है किन्तु **गो+इ** में केवल **गो** यह पद नहीं है क्योंकि **गवि** में **गो** शब्द से सप्तमी के एकवचन में **ङि** विभक्ति लगी है। **पदसंज्ञा** केवल शब्द की नहीं होती, अपितु विभक्ति से युक्त की होती है। अतः केवल **गो** यह पद नहीं है। अतः **गो+इ** में केवल **गो** यह **पदान्त गोशब्द** भी नहीं है। ऐसी जगह पर भी यदि **अवङ्** आदेश हो जायेगा तो **ग्+अव+इ=गवे** ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होने लगेगा। ऐसी अनिष्टसिद्धि के निवारण के लिए आचार्य ने इस सूत्र में **पदान्ते** की अनुवृत्ति की। अतः सूत्र **पदान्त गो** शब्द में ही प्रवृत्त होगा, अपदान्त में नहीं। **गो+इ** में **गो** अपदान्त है, अतः **अवङ्** आदेश नहीं हुआ। **गो+इ** में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश होकर **गवि** सिद्ध हुआ।

४८- **इन्द्रे च।** इन्द्रे सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **सर्वत्र विभाषा गोः** से **गोः** की तथा **अवङ् स्फोटायनस्य** से **अवङ्** की अनुवृत्ति आती है।

इन्द्र शब्द के परे होने पर गो-शब्द को अवङ् आदेश होता है।

अवङ् में **ङकार** की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा होती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप हो जाता है। **ङित्** होने के कारण **ङिच्च** की सहायता से अन्त्य वर्ण **गो** के **ओकार** के स्थान पर होगा।

गवेन्द्रः। श्रेष्ठ बैल, साँड़। **गो+इन्द्रः** में **अवङ् स्फोटायनस्य** से वैकल्पिक **अवङ्** आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **इन्द्रे च** से नित्य से **अवङ्** आदेश हुआ। **ङकार** की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप होकर **अव** बचा। **ङिच्च** की सहायता से अन्त्य वर्ण **गो** के **ओकार** के स्थान पर यह आदेश हुआ है। इस तरह **ग्+अव+इन्द्रः** बना। **ग्+अव=गव** बना है। **गव+इन्द्रः** में **आद्गुणः** से गुण होकर **गवेन्द्रः** सिद्ध हुआ।

४९- **दूराद्धूते च।** दूराद् पञ्चम्यन्तं, हूते सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः** का अधिकार है।

दूर से सम्बोधन करने में प्रयुक्त जो वाक्य, उसके टि को विकल्प से प्लुत होता है।

सभी प्लुतों को वैकल्पिक माना गया है। इस सूत्र से एकमात्रिक ह्रस्व और

प्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

५०. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति।

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५१. ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्।

हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू॥

....

द्विमात्रिक दीर्घ के स्थान पर त्रिमात्रिक प्लुत आदेश हो जाता है। वैसे लोक में जब किसी का नाम लेकर पुकारते हैं तो स्वाभाविक रूप से प्लुत का ही उच्चारण करते हैं। जैसे **अरे देवदत्त!** प्लुत का एक प्रयोजन प्रकृतिभाव करना भी होता है। जहाँ पर प्रकृतिभाव प्राप्त नहीं है, वहाँ केवल उच्चारण काल में भेद होगा। प्लुत हो जाने के बाद उसको समझने के लिए प्रायः ३ का अङ्क लिखने का प्रचलन है।

५०- प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्। प्लुताश्च प्रगृह्याश्च प्लुतप्रगृह्याः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। प्लुतप्रगृह्याः प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, नित्यं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे** से **प्रकृत्या** की अनुवृत्ति आती है।

अच् के परे होने पर प्लुत और प्रगृह्य को प्रकृतिभाव होता है।

आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति। हे कृष्ण! आओ, गौ यहाँ पर चर रही है। **आगच्छ कृष्ण+अत्र गौश्चरति** में दूर से सम्बोधन किया जा रहा है, अतः **कृष्ण** में णकारोत्तरवर्ती अकार जो **टिसंज्ञक** भी है, उसकी **दूराद्धूते च** से **प्लुतसंज्ञा** हो गई। उसके बाद सूत्र लगा- **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।** प्लुत है **कृष्ण** का अन्तिम वर्ण **अकार**, उससे **अच्** परे है **अत्र** का **अकार**। अतः **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **आगच्छ कृष्ण३ अत्र गौश्चरति** था, ऐसे ही रह गया। प्लुतसंज्ञा वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **कृष्ण+अत्र** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ होकर **आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति** ऐसा रूप सिद्ध हो जाता है।

इस तरह से सम्बोधन के वाक्य में अच् के परे होने पर दो रूप हुआ करते हैं। जहाँ अच् परे नहीं है, वहाँ केवल प्लुत ही बना रहेगा अर्थात् **प्रकृतिभाव** नहीं होगा।

५१- ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। ईच्च, ऊच्च, एच्च ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्वः। ईदूदेत् प्रथमान्तं, द्विवचनं प्रथमान्तं, प्रगृह्यं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **ईदूदेद्** यह पद **द्विवचनं** का विशेषण है। **येन विधिस्तदन्तस्य** इस परिभाषा से तदन्तविधि करके **ईदन्त द्विवचन, ऊदन्त द्विवचन और एदन्त द्विवचन** ऐसा अर्थ किया जाता है।

ईकारान्त द्विवचन, ऊकारान्त द्विवचन और एकारान्त द्विवचन प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

इकारान्त पुँल्लिङ्ग **हरि** शब्द तथा उकारान्त पुँल्लिङ्ग **भानु** शब्दों की प्रथमा के द्विवचन में क्रमशः **हरी** एवं **भानू** ये दीर्घान्त रूप बनते हैं और आबन्त शब्द के स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में **एकारान्त** रूप बनता है। इनकी **प्रगृह्यसंज्ञा** होने के बाद यदि आगे अच् हो तो **प्रकृतिभाव** हो जायेगा। स्मरण रहे कि **प्लुतसंज्ञा** वैकल्पिक है,

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५२. अदसो मात् १।१।१२॥

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः।

अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम्? अमुकेऽत्र।

....

अतः एक पक्ष में **दीर्घ** आदि कार्य भी होते हैं किन्तु **प्रगृह्यसंज्ञा** नित्य से होती है, अतः **प्रकृतिभाव** वाला एक ही रूप होगा।

हरी एतौ। ये दो हरि हैं। **हरी+एतौ** में ईकारान्त द्विवचन हरी की **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **हरी एतौ** ऐसा ही था और ऐसा ही रह गया। यदि प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव न होते तो **हरी+एतौ** में **इको यणचि** से यण् होकर **हर्येतौ** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

विष्णू इमौ। ये दो विष्णु हैं। **विष्णू+इमौ** में ऊकारान्त द्विवचन **विष्णू** की **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **विष्णू इमौ** ऐसा ही था और ऐसा ही रह गया। यदि प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव न होते तो **विष्णू+इमौ** में **इको यणचि** से यण् होकर **विष्ण्वमौ** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

गङ्गे अमू। ये दो गङ्गाएँ हैं। **गङ्गे+अमू** में एकारान्त द्विवचन **गङ्गे** की **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। प्रकृतिभाव का तात्पर्य है यथास्थिति से रहना। **गङ्गे अमू** ऐसा ही था और ऐसा ही रह गया। यदि प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव न होते तो **गङ्गे+अमू** में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप होकर **गङ्गेऽमू** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

५२- अदसो मात्। अदसः षष्ठ्यन्तं, मात् पञ्चम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **ईदूद्** और **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती हैं।

अदस् शब्द के मकार से परे ईकार और ऊकार प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं।

अदस् के तीनो लिङ्गों की प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन तथा बहुवचन में **अदसोऽसेर्दादु दो मः** से **मत्व** होकर **मकार** मिलता है। यदि उस **मकार** से परे **ईकार** और **ऊकार** मिलेगा तो उसकी इस सूत्र से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो जायेगी। इस तरह **अमू, अमी** ये दो रूप मिलते हैं। **अदस्** शब्द में **मकार** से परे एकार नहीं मिलता है। अतः **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **एत्** की अनुवृत्ति नहीं आती है।

अमी ईशाः। ये स्वामी जन हैं। **अमी** यह रूप **अदस्** के प्रथमा बहुवचन का है। **अमी+ईशाः** में **अमी** के **ईकार** की **अदसो मात्** से प्रगृह्यसंज्ञा हो गई क्योंकि यहाँ पर **अदस्**-शब्द के **मकार** से परे **ईकार** है। इसके बाद **प्लुतप्रगृह्यसंज्ञा अचि नित्यम्** से प्रकृतिभाव हो गया। **अमी ईशाः** ऐसा था, ऐसा ही रह गया। प्रकृतिभाव होने से **अमी+ईशा** में **अकः सवर्णे दीर्घः** से **सवर्णदीर्घ** न हो सका, क्योंकि सवर्णदीर्घ को बाधकर के प्रकृतिभाव होता है। अन्यथा सवर्णदीर्घ होकर **अमीशाः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

रामकृष्णावमू आसाते। ये दोनों राम और कृष्ण हैं। **रामकृष्णौ+अमू** में पहले

निपातसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५३. चादयोऽसत्त्वे १।४।५७॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

....

एचोऽयवायावः से आव् आदेश होकर **रामकृष्णावमू** बन गया है। **रामकृष्णावमू+आसाते** में **अदसो मात्** से **ऊकार** की प्रगृह्यसंज्ञा हो गई क्योंकि **अदस्**-शब्द के **मकार** से परे **ऊकार** है। इसके बाद **प्लुतप्रगृह्यसंज्ञा अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। **रामकृष्णावमू आसाते** ऐसा था, ऐसा ही रह गया। प्रकृतिभाव होने से **रामकृष्णावमू+आसाते** में **इको यणचि** से **यण्** न हो सका, क्योंकि यण् को बाधकर के प्रकृतिभाव होता है। अन्यथा यण् होकर **रामकृष्णावम्वासाते** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

मात् किम्? अमुकेऽत्र। अब यहाँ पर प्रश्न होता है कि सूत्र में **मात्** यह पद क्यों पढ़ा गया? क्योंकि **अदस्** शब्द में **मकार** के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत्, ऊत् ये, तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते। अतः **मात्** ग्रहण न करने से भी **अमू, अमी** की **प्रगृह्यसंज्ञा** हो जायेगी। उत्तर यह देते हैं कि यदि सूत्र में **मात्** नहीं पढ़ेंगे तो **अमुकेऽत्र** में दोष आयेगा। **अमुके** यह **अदस्** शब्द से **अकच्** प्रत्यय होकर प्रथमा के बहुवचन में सिद्ध होता है। **मात्** के न पढ़ने पर **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से जब **ईत्, ऊत्** की अनुवृत्ति आती है तो **एत्** की भी अनुवृत्ति आयेगी और सूत्र का अर्थ होगा- **अदस् शब्द के ईकार, ऊकार और एकार की प्रगृह्यसंज्ञा हो।** ऐसा अर्थ होने पर तो **अमुके+अत्र** में भी अदस् शब्द का एकार मिलता है। अतः प्रकृतिभाव होकर **अमुके अत्र** ऐसा अनिष्ट रूप बन जायेगा। ऐसे अनिष्ट रूप के निवारण के लिए इस सूत्र में **मात्** पढ़ा गया। **मात्** का अर्थ है मकार से परे। **मात्** पढ़ने से पूर्वसूत्र से **एत्** की अनुवृत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि अदस् शब्द के किसी भी रूप में मकार से परे एकार होता ही नहीं है। जब मकार से परे एकार होता ही नहीं है तो एत् की अनुवृत्ति आना भी व्यर्थ ही है। इस तरह से **मात्** पढ़ने के कारण **अमुके+अत्र** में प्रगृह्यसंज्ञा भी नहीं हुई और प्रकृतिभाव भी नहीं हुआ। एङः पदान्तादति से पूर्वरूप होकर **अमुकेऽत्र** सिद्ध हुआ।

ईत्, ऊत् की अनुवृत्ति आने पर तो **एत्** की अनुवृत्ति क्यों आयेगी? इस सम्बन्ध में एक परिभाषा है। **सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः** अर्थात् एक साथ पढ़े गये वर्ण जब कहीं प्रवृत्त होते हैं तो एक साथ प्रवृत्त होते हैं और निवृत्त होते हैं तो साथ-साथ ही निवृत्त होते हैं। यहाँ पर **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** में **ईत्, ऊत्, एत्** ये साथ में पढ़े गये हैं। जब **ईत्, ऊत्** ये कहीं जायेंगे तो **एत्** भी जाना चाहेगा। **एत्** न आये, इसलिए **मात्** पढ़ना जरूरी है।

अभ्यासः

१. **प्रकृतिभाव** का तात्पर्य बतायें।
२. कहाँ-कहाँ **प्रगृह्यसंज्ञा** और कहाँ-कहाँ **प्लुतसंज्ञा** होती है, स्पष्ट करें।
३. **अन्त्यादेश** और **सर्वादेश** के विषय में आप क्या जानते हैं?
४. **निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-**
बालिके अधियाते। कवी अत्र। वायू आवातः। रमे अत्र। वर्धेते अस्मिन्। उभे अभ्यस्तम्। धने इमे। माले अत्र। पाणी आस्ताम्।

निपातसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५४. प्रादयः १।४।५८॥

एतेऽपि तथा।

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५५. निपात एकाजनाङ् १।१।१४॥

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्।

इ इन्द्रः। उ उमेशः। **वाक्यस्मरणयोरङित्।** आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्, आ ईषदुष्णम् ओष्णम्।

....

५३- चादयोऽसत्त्वे। चः आदिर्येषां ते चादयः, बहुव्रीहिः। न सत्त्वम्- असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे। चादयः प्रथमान्तम्, असत्त्वे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** से **निपाताः** का अधिकार चल रहा है।

द्रव्य अर्थ न होने पर च आदि निपातसंज्ञक होते हैं।

लिङ्गसङ्ख्यान्वयित्वं द्रव्यत्वम्। जिस शब्द में लिङ्ग और सङ्ख्या का अन्वय अर्थात् सम्बन्ध हो अथवा जिस शब्द में लिङ्ग और सङ्ख्या हो, उसे द्रव्य कहते हैं। उससे भिन्न अद्रव्य हैं। जैसे **च, वा, हि, आ,** ये अद्रव्य हैं और **पशु, मनुष्य, पुस्तक, घर** आदि द्रव्य हैं। यह सूत्र चादिगण पठित शब्दों की निपातसंज्ञा करता है, यदि उनमें द्रव्यवाचकता न हो तो। निपातसंज्ञा के अनेक फल हैं, उनमें से एक फल प्रगृह्यसंज्ञा भी है।

५४- प्रादयः। प्रः आदिर्येषां ते प्रादयः, बहुव्रीहिः। **चादयोऽसत्त्वे** से **असत्त्वे** की अनुवृत्ति एवं **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** से **निपाताः** का अधिकार चल रहा है।

द्रव्य अर्थ न होने पर प्र आदि भी निपातसंज्ञक होते हैं।

प्रादि उपसर्गाः क्रियायोगे सूत्र में बताये जा चुके हैं। **प्रादि** की निपातसंज्ञा होने से **अव्ययसंज्ञा** भी हो जायेगी और **अव्यय** के बाद सुप् का लुक् हो सकेगा।

५५- निपात एकाजनाङ्। एकश्चासौ अच्- एकाच्, कर्मधारयः। न आङ्- अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः। **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है।

आङ् को छोड़कर मात्र एक अच् वाला निपात प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

जिसकी पहले **निपातसंज्ञा** हो चुकी हो, उसमें केवल **एक ही अच्** हो और एक अच् भी **आङ् वाला न हो** तो उस एकाच् की **प्रगृह्यसंज्ञा** इस सूत्र से की जाती है। **अनाङ्** अर्थात् **आङ्वर्जः** आङ् को छोड़कर। ऐसा इसलिए कहना पड़ा कि **आङ्** में **ङकार** की इत्संज्ञा और उसका लोप करने पर **आ** बचता है, उसकी **निपात**संज्ञा न हो सके। तात्पर्य यह हुआ कि **आङ्** को छोड़कर सभी एकाच् निपात प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं।

इ इन्द्रः। ओह! ये इन्द्र हैं! यहाँ पर अद्रव्यार्थक चादि है इ, उसकी **चादयोऽसत्त्वे** से **निपातसंज्ञा** हो गई और **निपात एकाजनाङ्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई। प्रगृह्यसंज्ञा का फल **प्रकृतिभाव** होना है तो **इ+इन्द्रः** में प्रकृतिभाव हो गया। अतः **इ इन्द्रः** ऐसा ही रहा। यहाँ पर **सवर्णदीर्घ** को बाधकर प्रकृतिभाव होता है। यदि **सवर्णदीर्घ** हो जाता तो **ईन्द्रः** ऐसा **अनिष्ट** रूप बन जाता।

प्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५६. ओत् १।१।१५।।

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात्। अहो ईशाः।

....

उ उमेशः। ओ! ये उमेश हैं! यहाँ पर अद्रव्यार्थक चादि है उ, उसकी **चादयोऽसत्त्वे** से **निपातसंज्ञा** हो गई और **निपात एकाजनाङ्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई। प्रगृह्यसंज्ञा का फल प्रकृतिभाव होना है तो **उ+उमेशः** में प्रकृतिभाव हो गया। अतः **उ उमेशः** ही रहा। यहाँ पर भी **सवर्णदीर्घ** को बाधकर प्रकृतिभाव होता है। सवर्णदीर्घ हो जाता तो **ऊमेशः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

वाक्यस्मरणयोरङित्। अन्यत्र ङित्। वाक्य और स्मरण अर्थ में आ अङित् होता है, अन्यत्र ङित् ही होता है।

चादिगण में **आ** तथा प्रादिगण **में आङ्** पढ़े गये हैं। इन दोनों की क्रमशः **चादयोऽसत्त्वे** तथा **प्रादयः** से **निपातसंज्ञा** होती है। इस प्रकार से दो निपात माने गये हैं। इनमे प्रथम **आ** की **निपात एकाजनाङ्** की प्रगृह्यसंज्ञा होती है किन्तु सूत्र में **अनाङ्** कहने के कारण द्वितीय आङ् की **प्रगृह्यसंज्ञा** नहीं होती है। अब यहाँ पर समस्या यह होती है कि आङ् के ङकार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा करके **तस्य लोपः** से लोप हो जाने के बाद **आ** ही बचता है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह हो जाता है कि यह **आ** चादि वाला आ है या **प्रादि** वाला **आङ्**? चादि वाला **अङित्** है तो प्रादि वाला **ङित्**। किस जगह पर **ङित् आ** को मानें और किस जगह **अङित् आ** को? इसके लिए मूलकार ने लिखा- **वाक्यस्मरणयोरङित्, अन्यत्र ङित्**। वाक्य और स्मरण अर्थ में **आ** को **अङित्** माना जाय और अन्यत्र ङित् माना जाय। अन्यत्र का अर्थ निम्नलिखित पद्य से स्पष्ट करते हैं-

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्।।

अर्थात् **ईषत्** अल्प अर्थ में, **क्रियायोगे** क्रिया के साथ योग होने पर, **मर्यादाभिविधौ च** मर्यादा और अभिविधि अर्थ में **आकार** को **ङित्** मानना चाहिए किन्तु वाक्य और स्मरण अर्थ में **अङित्** मानना चाहिए। **अङित् आकार** की **प्रगृह्यसंज्ञा** होती है और **ङित्** की नहीं होती है।

आ एवं नु मन्यसे अव तुम ऐसा मानते हो(वाक्य) तथा **आ एवं किल तत्** हाँ, ऐसा ही है (स्मरण) अर्थ में **आ अङित्** माना गया है। इसलिए **आ** की **निपात एकाजनाङ्** से प्रगृह्यसंज्ञा हुई और प्रकृतिभाव हो गया। **आ+एवं** यहाँ पर वृद्धि प्राप्त थी, उसे बाधकर प्रकृतिभाव हो गया।

इन दो अर्थों से भिन्न अर्थ अर्थात् ईषद् आदि अर्थों में ङित् होने के कारण प्रगृह्यसंज्ञा नहीं हुई तो प्रकृतिभाव भी नहीं हुआ। अतः **ईषद्** (अल्प) अर्थ में विद्यमान **आ** का **उष्णम्** के उकार के साथ गुण होकर **ओष्णम्** बन गया।

५६- ओत्। ओत् प्रथमान्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। **निपात एकाजनाङ्** से **निपातः** तथा **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है। यह पद **निपातः** का विशेषण है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** से तदन्तविधि होकर **ओदन्त** ऐसा अर्थ बनता है।

वैकल्पिकप्रगृह्यसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

५७. सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६॥

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे।

विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति।

वकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

५८. मय उञो वो वा ८।३।३३॥

मयः परस्य उञो वो वाऽचि। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

....

ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

अहो ईशाः। अहो! ये स्वामी हैं। **अहो+ईशाः** में **अहो** की **चादयोऽसत्त्वे** से निपातसंज्ञा हुई है। उसके बाद सूत्र लगा- **ओत्**। ओकारान्त निपात है **अहो**, इसकी इस सूत्र से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **अव्** आदेश को बाधकर प्रकृतिभाव हो गया। **अहो ईशाः** ऐसा ही रह गया। **अहो** यह अनेकाच् निपात होने के कारण **निपात एकाजनाङ्** से प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त नहीं हो रही थी, इसलिए यह सूत्र बनाया गया।

५७- सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। ऋषिर्वेदः, तत्र भवः आर्षः, न आर्षः- अनार्षः। सम्बुद्धौ सप्तम्यन्तं, शाकल्यस्य षष्ठ्यन्तम्, इतौ सप्तम्यन्तम्, अनार्षे सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्** से **प्रगृह्यम्** की अनुवृत्ति आती है।

अवैदिक इति शब्द के परे होने पर सम्बुद्धि निमित्तक ओकार विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञक होता है।

आर्षः का अर्थ है **वैदिक** और **अनार्ष** का अर्थ **अवैदिक**। उक्त सूत्र को लगाने के लिए वेद का **इति** शब्द न होकर लोक में प्रयुक्त होने वाला **इति** शब्द परे होना चाहिए। जिस ओकार की प्रगृह्यसंज्ञा कर रहे हैं वह ओकार सम्बुद्धि को निमित्त मानकर बन गया हो तो इस सूत्र से उसकी पाक्षिक **प्रगृह्यसंज्ञा** होती है। **शाकल्य ऋषि** के मत में उक्त संज्ञा होगी, अन्यों के मत में नहीं। अतः विकल्प से होना सिद्ध हुआ।

विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति। विष्णो! यह शब्द। **विष्णो+इति** में **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** से अवैदिक इति शब्द के परे सम्बुद्धि को निमित्त मानकर बने **ओकार** की विकल्प से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई। **विष्णु** शब्द के सम्बोधन में **ह्रस्वस्य गुणः** से गुण होकर **विष्णो** बना है। प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण **विष्णो+इति** में **एचोऽयवायावः** से प्राप्त **अव्** आदेश को बाधकर **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** से **प्रकृतिभाव** हो गया। **प्रकृतिभाव** का तात्पर्य है **यथास्थिति** में रहना। **विष्णो इति** था, **विष्णो इति** ही रह गया। यह सूत्र विकल्प से **प्रगृह्यसंज्ञा** करता है। प्रगृह्यसंज्ञा न होने के पक्ष में **विष्णो+इति** में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश हो गया, **विष्णव्+इति** बना। **वकार** का **लोपः शाकल्यस्य** से वैकल्पिक लोप हुआ, **विष्ण इति** बना। **पूर्वत्रासिद्धम्** से वकार के लोप को असिद्ध कर दिये जाने के कारण **आद्गुणः** से गुण नहीं हुआ। **वकार** के लोप न होने के पक्ष में **व्** जाकर इति से मिला **विष्णविति** सिद्ध हुआ। इस प्रकार से तीन रूप सिद्ध हुए- प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होने के पक्ष में **विष्णो इति**, अव् आदेश होकर वकार के लोप होने के पक्ष में **विष्ण इति** और लोप न होने के पक्ष में **विष्णविति**।

ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

५९. इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्? गौर्यौ।

....

५८- मय उञो वो वा। मयः पञ्चम्यन्तम्, उञः षष्ठ्यन्तं, वः प्रथमान्तं, वा अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है।

मय् से परे उञ् (उकार)के स्थान पर वकार आदेश होता है अच् परे होने पर।

यह सूत्र प्रकृतिभाव को बाधकर के वैकल्पिक **वकार** आदेश करने के लिए प्रवृत्त होता है। आदेश न होने के पक्ष में प्रकृतिभाव ही होगा। **उञ्** का **ञकार** इत्संज्ञक है, अतः **उ** ही दीखता है।

किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्। क्या कहा? **किम्+उ=किमु। किमु+उक्तम्** में उकार की **निपात एकाजनाङ्** से **प्रगृह्यसंज्ञा** हो गई और उसे प्रकृतिभाव प्राप्त था। उसे बाधकर के **मय उञो वो वा** से उकार के स्थान पर विकल्प से **व्** आदेश हुआ, **किम्+व्+उक्तम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **किम्वुक्तम्** सिद्ध हुआ। **वकार** आदेश न होने के पक्ष में **किमु+उक्तम्** को प्रकृतिभाव होकर **किमु उक्तम्** ऐसा ही रह गया।

अभ्यासः

१. **चादयोऽसत्त्वे** और **प्रादयः** की तुलना करिये।
२. **निपात एकाजनाङ्, ओत्** और **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** की व्याख्या कीजिए।
३. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि दिखाइये-
शम्भो इति। अहो अद्य। वायो इति। किमु इच्छसि। इ इन्द्राणी।

५९- इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च। न सवर्णः- असवर्णः, तस्मिन् असवर्णे, नञ्तत्पुरुषः। एङः पदान्तादति से विभक्ति और वचन का विपरिणाम करके **पदान्ताः** और **इको यणचि** से **अचि** की अनुवृत्ति आती है।

असवर्ण अच् के परे होने पर पदान्त में विद्यमान इक् को ह्रस्व होता है।

यह ह्रस्व अन्य सन्धियों को रोक कर **प्रकृतिभाव** करने के लिए है। **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** अर्थात् मेघ जब बरसते हैं तो जल में भी बरसते हैं और स्थल में भी। उसी प्रकार से सूत्र भी यदि प्राप्ति है तो उसके फल होने पर भी कार्य करते हैं और न होने पर भी। इसी तरह जब **इक्** को **ह्रस्व** होता है तो **ह्रस्व इक्** हो या **दीर्घ इक्,** दोनों को ह्रस्व होता है क्योंकि यहाँ पर ह्रस्व का फल सन्धि को रोकना है। ह्रस्व करने मात्र से यण् आदि सन्धि नहीं होगी, क्योंकि ह्रस्व करने के बाद भी यदि सन्धि करनी है तो ह्रस्व करना ही व्यर्थ है। अतः प्रकृतिभाव ही होगा। अत एव मूल में लिखा गया- **ह्रस्वविधान-सामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः।** शाकल्य के मत में ह्रस्व होगा, अन्यों के मत में नहीं, फलतः विकल्प से होना सिद्ध हुआ।

वैकल्पिकद्वित्वविधायकं विधिसूत्रम्

६०. अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

वार्तिकम्- **न समासे।** वाप्यश्वः।

....

इस सूत्र के कार्य को **ह्रस्वसमुच्चित-प्रकृतिभाव** कहते हैं। ह्रस्व भी और प्रकृतिभाव भी **ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव** हुआ।

चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। विष्णु यहाँ हैं। **चक्री+अत्र** में **इको यणचि** से यण् प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **इको सवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च।** पदान्त इक् है- **चक्री** का ईकार और असवर्ण अच् परे है- **अत्र** का अकार। अतः **चक्री** के **ईकार** को ह्रस्व करके **इकार** बन गया। अब भी **इको यणचि** से यण् हो सकता था किन्तु यण् नहीं होगा क्योंकि यदि ह्रस्व करने के बाद भी यण् ही करना है तो फिर **ह्रस्व** क्यों किया जाय? अतः **ह्रस्वविधानसामर्थ्यात्** अब यण् नहीं होगा। प्रकृतिभाव की अवस्था में रहेगा- **चक्रि अत्र।** यह ह्रस्व वैकल्पिक है. एक पक्ष में ह्रस्व नहीं होगा तो **चक्री+अत्र** में यण् होकर **चक्र्+य्+अत्र** बना। वर्णसम्मेलन होकर **चक्र्यत्र** सिद्ध हुआ।

अब इसी तरह अन्य जगहों पर भी उदाहरण देख सकते हैं। जैसे- **योगी+आगच्छति** में **योगि आगच्छति, योग्यागच्छति। वारि अत्र, वार्यत्र। भवति एव, भवत्येव।**

पदान्ताः इति किम्? गौर्यौ। यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि **इको सवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** में **पदान्ताः** की अनुवृत्ति न लाते तो क्या हानि होती? उत्तर दिया- **गौर्यौ।** यदि **पदान्ताः** न होता तो पदान्त और अपदान्त दोनों इक् को ह्रस्व होता। फलतः **गौरी+औ** में अपदान्त ईकार को ह्रस्व हो जाता। ह्रस्व का फल सन्धि को रोकना है, अतः **गौरी+औ** में सन्धि न होकर प्रकृतिभाव होने की आपत्ति आती। फलतः **गौरिऔ** ऐसा अनिष्ट रूप बनता। उसके निवारणार्थ **पदान्ताः** की अनुवृत्ति की गई है जिससे **गौरी+औ** में **प्रकृतिभाव** न होकर **इको यणचि** से यण् होकर **गौर्यौ** सिद्ध हुआ।

६०- अचो रहाभ्यां द्वे। रश्च हश्च रहौ, ताभ्यां- रहाभ्याम्, द्वन्द्वः। अचः पञ्चम्यन्तं, रहाभ्यां पञ्चम्यन्तं, द्वे प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है।

अच् से परे जो रेफ और हकार, उससे परे यर् का विकल्प से द्वित्व होता है।

गौर्यौ। पूर्वसूत्र में जो **गौर्यौ** दिखाया गया, उसमें और आगे की विधि को बता रहे हैं कि **गौरी+औ** में यण् होने के बाद् **गौर्+य्+औ** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **अचो रहाभ्यां द्वे।** अच् है **गौ** का **औकार**, उसके परे रेफ है **गौर्** का **रेफ**, उससे परे यर् है **य्**, उसका वैकल्पिक द्वित्व हुआ- **गौर्+य्य्+औ** बना। वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन हुआ- **गौर्य्यौ।** द्वित्व न होने के पक्ष में एक यकार वाला **गौर्यौ** रहता है।

इसी तरह **कर्म्म, कर्म। शर्म्मा, शर्मा, दुर्ग्गः, दुर्गः, कार्य्यम्, कार्यम्, आर्य्यः, आर्यः** आदि प्रयोगों में भी वैकल्पिक द्वित्व होता है। यद्यपि व्यवहार में प्रायः द्वित्व का रूप लिखा नहीं जाता तथापि उच्चारण जो है, द्वित्व वाला ही किया जाता है।

ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावविधायकं विधिसूत्रम्

६१. ऋत्यकः ६।१।१२८॥

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद्वा। ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः।

पदान्ताः किम्? आर्च्छत्।

इत्यच्सन्धिः॥२॥

....

न समासे। यह वार्तिक **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से सम्बन्धित है। उक्त सूत्र से जो ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव होता है, वह **समास होने पर नहीं होता** अर्थात् समास हो जाने पर सन्धि ही हो जाती है।

वाप्यश्वः। तालाब में (स्थित) घोड़ा। **वाप्याम् अश्वः** लौकिक विग्रह करके **वापी ङि+अश्व सु** अलौकिक विग्रह में सप्तमीतत्पुरुष होकर विभक्ति का लुक् करके **वापी+अश्वः** बना है। यहाँ पर **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से ह्रस्व प्राप्त हुआ तो **न समासे** इस वार्तिक ने निषेध कर दिया। अतः **इको यणचि** से यण् हो गया- **वाप्+य्+अश्वः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **वाप्यश्वः** सिद्ध हुआ। यदि यह वार्तिक न होता तो एक पक्ष में **वापि अश्वः** ऐसा अनिष्ट रूप भी बन जाता।

६१- ऋत्यकः। ऋति सप्तम्यन्तम्, अकः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **एङः पदान्तादति** से विभक्ति और वचन का विपरिणाम करके **पदान्ताः** की, **इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च** से **ह्रस्वः** और **शाकल्यस्य** की अनुवृत्ति आती है। **प्राग्वद्**= पहले की तरह हो।

ह्रस्व ऋकार के परे होने पर पदान्त अक् को ह्रस्व होता है।

इस सूत्र से भी ह्रस्व ही किया जाता है जिससे सन्धि न हो और प्रकृतिभाव ही हो जाय। तात्पर्य यह हुआ कि **ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव** हो जाय। ह्रस्व करके प्रकृतिभाव हो। यदि सन्धि ही करनी होती तो ह्रस्व करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मर्षिः। **ब्रह्मा+ऋषिः** में **आद्गुणः** से गुण प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **ऋत्यकः।** ह्रस्व ऋकार परे है **ऋषिः** का ऋकार और पदान्त अक् है- **ब्रह्मा** का आकार। आकार को वैकल्पिक ह्रस्व होकर **ब्रह्म+ऋषिः** बना। अब ह्रस्व करने के कारण पुनः **आद्गुणः** की प्रवृत्ति नहीं हुई, **ब्रह्म ऋषिः** रह गया। ह्रस्व न होने के पक्ष में **ब्रह्मा+ऋषिः** में **आद्गुणः** से रपर-सहित **अर्-गुण** हुआ- **ब्रह्म्+अर्+षिः** बना। वर्णसम्मेलन और रेफ का ऊर्ध्वगमन होकर **ब्रह्मर्षिः** सिद्ध हुआ। इस तरह दो रूप बन गये।

पदान्ता किम्? आर्च्छत्। यहाँ पर प्रश्न करते हैं कि **ऋत्यकः** में **पदान्ताः** की अनुवृत्ति न लाते तो क्या होता? उत्तर दिया- **आर्च्छत्।** यदि **पदान्ताः** न होता तो पदान्त और अपदान्त दोनों **अक्** को **ह्रस्व** होता। फलतः **आ+ऋच्छत्** में **आट्** आगम वाले अपदान्त **आकार** को भी **ह्रस्व** हो जाता। **ह्रस्व** का फल सन्धि को रोकना है, अतः **अ+ऋच्छत्** में सन्धि न होकर प्रकृतिभाव होने की आपत्ति आती जिससे **अऋच्छत्** ऐसा अनिष्ट रूप बनता। उसके निवारणार्थ **पदान्ताः** की अनुवृत्ति की गई है। अतः ह्रस्व न होकर के **आ+ऋच्छत्** में **आटश्च** से वृद्धि होकर **आर्च्छत्** सिद्ध हुआ।

छात्रों को मेरा निर्देशः-

छात्रों को मेरा निर्देश है कि आपने अभी तक **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** के सूत्रों का पारायण शुरू नहीं किया हो तो अवश्य कर दें। यदि आप रट सकते हैं तो अच्छी बात है, नहीं तो प्रतिदिन दो अध्याय के नियम से सूत्रपाठ का पारायण करें। पहले महीने में प्रथम व द्वितीय अध्याय, दूसरे महीने में तीसरा और चौथा अध्याय, तीसरे महीने में पाँचवाँ और छठा अध्याय तथा चौथे महीने में सातवाँ और आठवाँ अध्यायों का पारायण करने से लगभग चार महीने में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जाती है क्योंकि बच्चे एक महीने तक प्रतिदिन जिस विषय का पारायण करेंगे, वह विषय उनको याद हो जाता है। यदि एक आवृत्ति में उनको याद नहीं भी हुआ तो दूसरी आवृत्ति में अर्थात् अगले चार महीनों में अवश्य याद हो जायेगा। यदि आठ महीने में पाणिनि जी के समस्त सूत्र याद हो जायें तो बहुत बड़ी बात है। यदि प्रतिदिन दो अध्याय का नियम नहीं कर सकते तो एक अध्याय ही पारायण करने का नियम बना लें। अपनी सुविधा के अनुसार अध्यायसंख्या निर्धारित करें किन्तु पारायण अवश्य करें।

लघुसिद्धान्तकौमुदी में भी आप सूत्र-वृत्ति को तो अच्छी तरह कण्ठस्थ कर ही लें और अर्थ तथा उसकी व्याख्या को भी अच्छी तरह समझ लें। यदि आप कहीं पर नहीं समझ रहे हैं तो अपने आचार्य को पूछना न भूलें। प्रत्येक सूत्र या प्रकरण के अन्त में दिये गये अभ्यासों(परीक्षा) को ठीक तरह से कर लें। एक प्रकरण को अच्छी तरह से जान लेने के बाद दूसरा प्रकरण या दूसरा सूत्र शुरू करें। यह ध्यान रहे कि जैसे मकान बनाने के लिये एक ईंट के बाद दूसरी, तीसरी ईंटें क्रमशः लगाई जाती हैं और बीच में खाली जगह छोड़कर या एक हाथ ऊपर से विना आधार के ईंटें नहीं लग सकतीं उसी प्रकार पहले के प्रकरण के विना आगे का प्रकरण भी नहीं लग सकता। अतः जितना आप पढ़ रहे हैं, उतना अपने अधिकार में सुरक्षित रखें।

संस्कृत में सन्धि का विशेष महत्त्व है। अभी तक आप अचों की सन्धि जान चुके हैं। अब हलों की सन्धि जानने के लिये तैयार रहें किन्तु उससे पहले सम्पूर्ण अच्सन्धि को एक बार अवश्य दुहराये और निम्नलिखित अभ्यास भी ठीक तरह कर लें। इसके पहले आप दो दिन के लिए **लघुसिद्धान्तकौमुदी** को कपड़े से बाँधकर रखें और उसकी पूजा करें। निम्नलिखित प्रश्नावली में प्रत्येक प्रश्न ५-५ अंक के हैं। आपको उत्तीर्ण होने के लिए कम से कम ४० अंक प्राप्त करने होंगे। यदि आप उत्तीर्ण हो गये तो फिर आगे का प्रकरण पढ़ें, अन्यथा इसी प्रकरण को पुनः तैयार करके दूसरी बार परीक्षा प्रश्नावली का उत्तर दें। इसके उत्तर में पाँच घण्टे से ज्यादा समय नहीं लगना चाहिये। बाकी समय में आप अपने गुरु जी एवं सहपाठियों से विचार-विमर्श करें।

परीक्षा

१. यण्सन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
२. अयादिसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
३. गुणसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

४. वृद्धिसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
५. पररूप, पूर्वरूप एवं आर्वृद्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
६. सवर्णदीर्घसन्धि के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।
७. प्रकृतिभाव के किन्हीं पाँच प्रयोगों की सिद्धि दिखायें।
८. **परिभाषा** किसे कहते हैं और आपने **अच्सन्धि** में कितने **परिभाषा सूत्रों** को पढ़ा? उनसे सम्बन्धित किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें एवं हिन्दी में उनके एक-एक उदाहरण देकर समझायें।
९. **पूर्वरूप** और **पररूप** में क्या अन्तर है? पाँच उदाहरण देकर समझाइये।
१०. अच्सन्धि में जितने भी एकादेश करने वाले सूत्र हैं उनके एक-एक उदाहरण देकर समझायें।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का अच्सन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ हल्सन्धिः

श्चुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

६२. स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः।

रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय॥

....

श्रीधरमुखोल्लासिनी

अव **हल्सन्धि** प्रारम्भ होती है। **हलों की सन्धि** अर्थात् **व्यञ्जनों** में होने वाली **सन्धि**। कहीं हल् से हल् परे और कहीं पूर्व में **हल्** किन्तु पर में **अच्** हो तो भी होने वाली सन्धि हल्सन्धि कहलाती है। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** में हल्सन्धि के अन्तर्गत श्चुत्व, ष्टुत्व, जश्त्व, अनुनासिक, पूर्वसवर्ण, चर्त्व, छत्व, अनुस्वार, परसवर्ण, कुक्-टुक्, धुट्, तुक्, ङमुट् आगम, अनुनासिक और अनुस्वार आगम, विसर्ग आदेश, रु आदेश एवं तुगागम बताये गये हैं।

६२- स्तोः श्चुना श्चुः। स् च तुश्च स्तुः तस्य स्तोः, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। श् च चुश्च श्चुः, तेन श्चुना समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। श् च चुश्च श्चुः, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। यद्यपि इन तीनों शब्दों में समाहारद्वन्द्व होने के कारण नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए तथापि सूत्र में कहीं-कहीं आर्ष प्रयोग होने से पुँल्लिङ्ग भी हो सकता है। स्तोः षष्ठ्यन्तं, श्चुना तृतीयान्तं, श्चुः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

सकार और तवर्ग के स्थान पर शकार और चवर्ग का योग होने पर शकार और चवर्ग आदेश होते हैं।

यह सूत्र **श्चुत्व** करता है। **सकार** और **तवर्ग** ये **स्थानी** एवं **शकार** और **चवर्ग** ये **आदेश** हैं। **शकार** या **चवर्ग** का योग हो अर्थात् जिस वर्ण के स्थान पर श्चुत्व करना है उसके पूर्व या पर में या तो **तालव्य शकार** हो या तो **चवर्ग** (च्, छ्, ज्, झ्, ञ् में से कोई एक वर्ण) हो तो उस **दन्त्य सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** और **तवर्ग** (त्, थ्, द्, ध् और न्) के स्थान पर **चवर्ग** आदेश होता है। **दन्त्य सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** और **तवर्ग** के स्थान पर **चवर्ग** होगा। **दन्त्य सकार** स्थानी के रूप में अकेला ही है और आदेश भी **तालव्य शकार** अकेला ही है। एक स्थानी के स्थान पर एक ही आदेश प्राप्त होने पर कोई अनियम नहीं होता किन्तु तवर्ग का कोई एक अक्षर **स्थानी** होगा और आदेश में चवर्ग के सभी वर्ण प्राप्त होंगे। अतः एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति होना अनियम है। अतः **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** इस परिभाषा सूत्र के नियमानुसार स्थानी

चुत्वनिषेधकं विधिसूत्रम्

६३. शात् ८।४।४४॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः॥

....

तवर्ग में प्रथम **तकार** के स्थान पर चवर्ग में प्रथम **चकार** आदेश, तवर्ग में द्वितीय **थकार** के स्थान पर चवर्ग में द्वितीय **छकार** आदेश, तवर्ग में तृतीय **दकार** के स्थान पर चवर्ग में तृतीय **जकार** आदेश, तवर्ग में चतुर्थ **धकार** के स्थान पर आदेश में चतुर्थ **झकार** आदेश, और तवर्ग में पञ्चम **नकार** के स्थान पर आदेश में पञ्चम **ञकार** आदेश होंगे। **शकार** और **चवर्ग** का योग पूर्व में हो और **सकार** एवं **तवर्ग** पर में हो तो भी श्चुत्व होगा और **सकार** और **तवर्ग** पूर्व में हो और **शकार** और **चवर्ग** का योग पर में हो तो भी **श्चुत्व** होगा। इस सूत्र से किये गये कार्य को **श्चुत्व** कहते हैं।

रामश्शेते। राम सोता है। **रामस्+शेते** ऐसी स्थिति में **तालव्य शकार** का योग है- **शेते** के **शकार** और पूर्व में है **रामस्** का दन्त्य **सकार**। अतः **रामस्** के दन्त्य **सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** हो गया **रामश्+शेते** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामश्शेते**।

रामश्चिनोति। राम चुनता है। **रामस्+चिनोति** में भी **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व हुआ। यहाँ पर **चिनोति** के **चकार** का योग है। इसलिए **रामस्** के **दन्त्य सकार** के स्थान पर **तालव्य शकार** आदेश हो गया- **रामश्चिनोति**।

सच्चित्। सत् और चित्। **सत्+चित्** ऐसी स्थिति में **स्तोः श्चुना श्चुः** से **श्चुत्व** हुआ। यहाँ पर **चित्** के **चकार** का योग है और स्थानी **तवर्ग** के **प्रथम** अक्षर **सत्** के **तकार** के स्थान पर **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से आदेश में प्रथम **चकार** आदेश हुआ- **सच्+चित्** बना, वर्णसम्मेलन हुआ। (च्+चि=च्चि) **सच्चित्**।

शार्ङ्गिञ्जय। हे शार्ङ्गधारी विष्णु! तुम जीतो। **शार्ङ्गिन्+जय** में **स्तोः श्चुना श्चुः** से **श्चुत्व** हुआ। यहाँ पर **शार्ङ्गिन्** के **नकार** के स्थान पर चवर्ग में पञ्चम **ञकार** आदेश हुआ। यहाँ पर **जय** का **जकार** चवर्ग है। इस तरह **शार्ङ्गिञ्+जय** बना वर्णसम्मेलन हुआ (ञ्+ज=ञ्ज) **शार्ङ्गिञ्जय** सिद्ध हुआ।

६३- शात्। शात् पञ्चम्यन्तम् एकपदमिदं सूत्रम्। **तोः षि** सूत्र से **तोः** तथा **न पदान्ताट्टोरनाम्** सूत्र से **न** की अनुवृत्ति आती है।

तालव्य शकार से परे तवर्ग को चुत्व नहीं होता है।

यह सूत्र **स्तोः श्चुना श्चुः** इस सूत्र का निषेधक सूत्र है, जो **तालव्य शकार** से परे तवर्ग के चुत्व का निषेध करता है। इस तरह शकार से परे तवर्ग का श्चुत्व नहीं होता है किन्तु चवर्ग से परे तवर्ग का चुत्व हो जाता है।

विश्नः। गमन। **विश्+नः** इस स्थिति में **शकार** से परे **नकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व प्राप्त था तो **शात्** ने शकार से परे होने के कारण निषेध कर दिया, **विश्नः** ही रह गया। यदि चुत्व हो जाता तो **विश्ञः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

प्रश्नः। सवाल। **प्रश्+नः** इस स्थिति में **शकार** से परे **नकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से श्चुत्व प्राप्त था तो **शात्** ने शकार से परे होने के कारण निषेध कर दिया, **प्रश्नः** ही रह गया। यदि चुत्व हो जाता तो **प्रश्ञः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

ष्टुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

६४. ष्टुना ष्टुः।८।४।४१।।

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्।

रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।।

....

६४- ष्टुना ष्टुः। ष् च टुश्च ष्टुः, तेन ष्टुना, समाहारद्वन्द्वः, सौत्रं पुँस्त्वम्। ष् च टुश्च ष्टुः, समाहारद्वन्द्वः, अत्रापि सौत्रं पुँस्त्वम्। ष्टुना तृतीयान्तं, ष्टुः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **स्तोः श्चुना श्चुः** से **स्तोः** की अनुवृत्ति आती है।

दन्त्य सकार और तवर्ग के स्थान पर मूर्धन्य षकार और टवर्ग का योग होने पर मूर्धन्य षकार और टवर्ग आदेश होते हैं।

यह सूत्र भी **स्तोः श्चुना श्चुः** के जैसा है। वह श्चुत्व करता है और यह ष्टुत्व। इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को **ष्टुत्व** कहते हैं। **स्तोः** का अर्थ है- सकारतवर्गयोः (सकार और तवर्ग के स्थान पर)। **ष्टुना** का अर्थ है **मूर्धन्य षकार** और **टवर्ग** का योग होने पर। **मूर्धन्य षकार** और **टवर्ग** का योग होने पर **दन्त्य सकार** के स्थान पर **मूर्धन्य षकार** और **तवर्ग** के स्थान पर **टवर्ग** आदेश होगा। स्थानी **दन्त्य सकार** एक ही है और आदेश **मूर्धन्य षकार** भी एक ही है। इसलिये कोई अनियम नहीं हुआ। अतः किसी परिभाषा सूत्र की आवश्यकता नहीं पड़ी किन्तु प्रयोग में स्थानी में **तवर्ग** में कोई एक ही मिलेगा और आदेश **टवर्ग के पाँचों** प्राप्त हो जायेंगे, अतः अनियम हो जायेगा। इसलिये **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** के सहयोग से क्रमशः होने का विधान किया जायेगा। फलतः स्थानी में प्रथम **तकार** के स्थान पर आदेश में प्रथम **टकार** होगा और स्थानी में पञ्चम **नकार** के स्थान पर आदेश में पञ्चम **णकार** होगा।

रामष्षष्ठः। राम छठा है। **रामस्+षष्ठः** में सूत्र लगा- **ष्टुना ष्टुः**। सूत्रार्थ घटाने पर **दन्त्य सकार** है **रामस्** वाला **सकार** और **मूर्धन्य षकार** का योग है **षष्ठ** वाले **षकार** का। अतः **रामस्** के **सकार** के स्थान पर **मूर्धन्य षकार** आदेश हुआ- **रामष् षष्ठः** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामष्षष्ठः** सिद्ध हुआ।

रामष्टीकते। राम जाता है। **रामस्+टीकते** में **ष्टुना ष्टुः** से **टीकते** के टवर्ग वाले **टकार** के योग में **रामस्** के **सकार** के स्थान पर **मूर्धन्य षकार** आदेश हुआ- **रामष् टीकते** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **रामष्टीकते** सिद्ध हुआ।

पेष्टा। पीसने वाला। पेष्+ता में **ष्टुना ष्टुः** से ष्टुत्व हो कर **ता** के **तकार** के स्थान पर टवर्ग वाला **टकार** आदेश हुआ- **पेष्+टा** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- **पेष्टा** सिद्ध हुआ।

तट्टीका। वह टीका। **तत्+टीका** में भी **ष्टुना ष्टुः** से ष्टुत्व होकर **तकार** के स्थान पर **टकार** आदेश तथा वर्णसम्मेलन होकर **तट्टीका** सिद्ध हुआ।

चक्रिण्ढौकसे। हे चक्रधारी! तुम जाते हो। **चक्रिन्+ढौकसे** में टवर्ग **ढकार** के योग में स्थानी में पञ्चम **चक्रिन्** के **नकार** के स्थान पर आदेश में पञ्चम **णकार** हुआ- **चक्रिण् ढौकसे** बना। वर्णसम्मेलन होकर- **चक्रिण्ढौकसे** सिद्ध हुआ।

ष्टुत्वनिषेधकं विधिसूत्रम्

६५. न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२॥

पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्।

षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्।

वार्तिकम्- **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्।** षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

....

अभ्यासः

(क) **स्तोः श्चुना श्चुः** और **ष्टुना ष्टुः** की तुलना करें।

(ख) ये दोनों सूत्र सपादसप्ताध्यायी हैं या त्रिपादी?

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

हरिष्षडाचार्यः। दृष्+तः। इण्न। पेष्टुम्। सर्पिष्+तमम्। ग्रामात्+चलितः।

उद्+ज्वलम्। तज्जलम्। सत्+छात्रः। उत्+छेदः। बालकस्+चपलः।

६५- न पदान्ताट्टोरनाम्। न अव्ययपदं, पदान्तात् पञ्चम्यन्तं, टोः पञ्चम्यन्तम्, अनाम् लुप्तषष्ठीकं पदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **स्तोः श्चुना श्चुः** से **स्तोः** और **ष्टुना ष्टुः** से **ष्टुः** की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त टवर्ग से परे नाम् के नकार को छोड़कर अन्य तवर्ग एवं सकार को ष्टुत्व नहीं होता है।

षट् सन्तः। छ सज्जन। **षट्+सन्तः** में **ष्टुना ष्टुः** से **षट्** के **टकार** से परे **सन्त** के **सकार** को **ष्टुत्व** अर्थात् **षकारादेश** प्राप्त था, उसका **न पदान्ताट्टोरनाम्** से पदान्त टवर्ग से परे होने के कारण निषेध हो गया क्योंकि **षष्** शब्द से प्रथमा के बहुवचन में **षट्** बनता है। उसकी **सुप्तिङन्तं पदम्** से पदसंज्ञा होती है। अतः **षट् सन्त** ही रह गया।

षट् ते। छ जने वे। **षट्+ते** में **ष्टुना ष्टुः** से **षट्** के **टकार** से परे **ते** के **तकार** को **टुत्व** अर्थात् **टकारादेश** प्राप्त था, उसका **न पदान्ताट्टोरनाम्** से पदान्त टवर्ग से परे होने के कारण निषेध हो गया। **षट् ते** ही रह गया।

पदान्तात् किम्? ईट्टे। अब प्रश्न करते हैं कि **न पदान्ताट्टोरनाम्** में **पदान्तात्** न पढ़ते तो क्या होता? उत्तर देते हैं- **ईट्टे** में दोष आता। क्योंकि जब **पदान्तात्** नहीं पढ़ेंगे तो पदान्त से परे हो या अपदान्त से, यह सूत्र सकार और तवर्ग के ष्टुत्व का निषेध करता। ऐसे में **ईट्+ते** में अपदान्त टकार से परे **ते** के **तकार** का टुत्व निषेध हो जाता और **इट्ते** ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगता। उक्त दोष के निवारणार्थ इस सूत्र में **पदान्तात्** पढ़ा गया जिससे पदान्त से परे सकार और तवर्ग को ही ष्टुत्व-निषेध करेगा, अपदान्त से परे नहीं। यहाँ **इट्** का टकार अपदान्त है, क्योंकि **ईट्टे** यह रूप तिङ्प्रत्ययान्त है। अतः **ईट्टे** पूरे की पदसंज्ञा होती है, न कि केवल **ईट्** मात्र की। इस तरह उक्त टकार से पर **तकार** को टुत्व-निषेध नहीं हुआ अपितु **ष्टुना ष्टुः** से टुत्व हो गया- **ईट्टे** सिद्ध हुआ।

टोः किम्? सर्पिष्टमम्। अब प्रश्न करते हैं कि **न पदान्ताट्टोरनाम्** में **टोः** न पढ़ते तो क्या होता? उत्तर देते हैं- **सर्पिष्टमम्** में दोष आता। क्योंकि **टोः** का अर्थ टवर्ग से परे। जब **टोः** नहीं पढ़ेंगे तो किसी से भी परे सकार और तवर्ग के ष्टुत्व का निषेध करता। ऐसे में **सर्पिष्+तमम्** में **षकार** से परे **तमम्** के **तकार** का भी टुत्व निषेध हो जाता और

ष्टुत्वनिषेधकं विध्यन्तर्गतं निषेधसूत्रम्

६६. तोः षि ८।४।४३॥

न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

....

सर्पिप्तमम् ऐसा अनिष्ट रूप बनने लगता। उक्त दोष के निवारणार्थ इस सूत्र में **टोः** पढ़ा गया जिससे टवर्ग से परे सकार और तवर्ग को ही ष्टुत्व-निषेध होगा, षकार से परे नहीं। यहाँ **सर्पिष्** में **षकार** है, उससे परे **तकार** है, उसका **टुत्व-निषेध** नहीं हुआ अपितु **ष्टुना ष्टुः** से **टुत्व** हो गया- **सर्पिष्टमम्** सिद्ध हुआ।

अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। यह वार्तिक है। **पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति और नगरी शब्दों के नकार को छोड़कर अन्य सकार और तवर्ग को ष्टुत्व न हो, ऐसा कहना चाहिए।**

वार्तिककार कह रहे हैं कि **न पदान्ताट्टोरनाम्** में **अनाम्** की जगह **अनाम्नवतिनगरीणाम्** ऐसा कहना चाहिए। सूत्र से जो निषेध किया गया है उसमें नाम्-शब्द को छोड़कर है। वार्तिककार का कहना है कि **केवल नाम् शब्द को छोड़कर** ऐसा कहना पर्याप्त नहीं है। उसके स्थान पर **नाम्, नवति और नगरी शब्दों को छोड़कर** ऐसा कहना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि सूत्र से टुत्व निषेध करते समय केवल **नाम्** के **नकार** को टुत्व निषेध न हो ऐसा कहा गया था, वह **नवति** और **नगरी** शब्दों के भी नकार को टुत्व निषेध न हो, अर्थात् इन शब्दों के नकारों को टुत्व हो जाय।

षण्णाम्। छः का। **षड्+नाम्** में उक्त **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्** से **न पदान्ताट्टोरनाम्** से प्राप्त टुत्व-निषेध से मुक्त कर देने पर **नाम्** के **नकार** को **टुत्व** हो गया। **नकार** को **टुत्व** होने पर **णकार** होता है, अतः **षड्+णाम्** बन गया। यहाँ पर आगे आने वाले सूत्र **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से विकल्प से अनुनासिक आदेश प्राप्त होता है, उसे बाधकर **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** इस वार्तिक से **षड्** के डकार को नित्य से अनुनासिक होकर णकार बन गया- **षण्+णाम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **षण्णाम्** सिद्ध हुआ।

षण्णवतिः। छियान्नवे। **षड्+नवति** में उक्त **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्** से **न पदान्ताट्टोरनाम्** से प्राप्त टुत्व-निषेध को रोक देने पर **नवति** के **नकार** को **टुत्व** हो गया। **नकार** को टुत्व **णकार** होता है, अतः **षड्+णवतिः** बन गया। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **षड्** के डकार को वैकल्पिक अनुनासिक आदेश होकर णकार बन गया- **षण्+णवतिः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **षण्णवतिः** सिद्ध हुआ। अनुनासिक न होने के पक्ष में **षड्णवतिः** भी बनता है।

षण्णगर्यः। छः नगरियाँ हैं। **षड्+नगर्यः** में उक्त **अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्** से **न पदान्ताट्टोरनाम्** से प्राप्त टुत्व-निषेध को रोक देने पर **नगर्यः** के नकार को टुत्व हो गया। **नकार** का टुत्व **णकार** होता है, अतः **षड्+णगर्यः** बन गया। **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** से **षड्** के **डकार** को विकल्प से अनुनासिक आदेश होकर **णकार** बन गया- **षण्+णगर्यः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **षण्णगर्यः** सिद्ध हुआ। अनुनासिक न होने के पक्ष में **षड्णगर्यः** भी बनता है।

जश्त्वविधायकं विधिसूत्रम्

६७. झलां जशोऽन्ते ८।२।३९॥

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः।

....

६६- **तोः षि**। तोः षष्ठ्यन्तं, षि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **न पदान्ताट्टोरनाम्** से **न** तथा **ष्टुना ष्टुः** से **ष्टुः** की अनुवृत्ति आती है।

षकार के परे होने पर तवर्ग को ष्टुत्व न हो।

यह **ष्टुना ष्टुः** का निषेधक सूत्र है। अन्यत्र **टुत्व** हो जाय किन्तु **षकार** के परे होने पर **तवर्ग** को **टुत्व** न हो। **स्तोः श्चुना श्चुः** के निषेध के लिए **शात्** तथा **ष्टुना ष्टुः** के निषेध के लिए **न पदान्ताट्टोरनाम्** और **तोः षि** ये दो सूत्र हैं।

सन्षष्ठः। छठा श्रेष्ठ। **सन्+षष्ठः** में षष्ठः के षकार के योग में सन् के नकार के स्थान पर **ष्टुना ष्टुः** से टुत्व प्राप्त था तो **तोः षि** ने निषेध कर दिया, **सन्षष्ठः** ही रह गया।

अभ्यासः

१. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

तत्+ठकारः। हरिस्+षष्ठः। इष्+तः। परिव्राट्+नगरी। पदान्तात्+टोरनाम्। भवान्षष्ठः।

२. हल्सन्धि में अभी तक के सूत्रों की समीक्षा करके **श्चुत्व, श्चुत्व निषेध** और **ष्टुत्व** तथा **ष्टुत्व निषेध** के दो-दो उदाहरण बतायें।

३. उक्त पाँच सूत्रों में पूर्व-पर तथा सपादसप्ताध्यायी या त्रिपादी का निर्णय करें।

६७- **झलां जशोऽन्ते**। झलां षष्ठ्यन्तं, जशः प्रथमान्तम्, अन्ते सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** सूत्र का अधिकार आ रहा है। अतः **पद के अन्त में** यह अर्थ हुआ।

पद के अन्त में विद्यमान झल् के स्थान पर जश् आदेश होता है।

झल् के बाद कोई भी वर्ण हो या न हो। **अच्** हो तो भी जश्त्व करेगा और **हल्** हो तो भी करेगा। हाँ, इसको बाधकर अन्य कोई सूत्र लगे तो अलग बात है। झल् प्रत्याहार में वर्ग के **पंचम** अक्षरों को छोड़कर **प्रथम, द्वितीय, तृतीय चतुर्थ** अक्षर तथा **श्, ष्, स्, ह्** ये वर्ण आते हैं। **जश्** प्रत्याहार में केवल वर्ग के तीसरे अक्षर **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये ही आते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थानी और आदेश में स्थान से तुल्यता होने पर आदेश होगा। **क्, ख्, ग्, घ्** , **ह्** के स्थान पर कण्ठस्थान की तुल्यता से **'ग्'** आदेश होगा। **च्, छ्, ज्, झ्, श्** के स्थान पर **तालुस्थान** की तुल्यता से **'ज्'** आदेश होगा। **ट्, ठ्, ड्, ढ्, ष्** के स्थान पर **मूर्धास्थान** की तुल्यता से **'ड्'** आदेश होगा। **त्, थ्, द्, ध्, स्** के स्थान पर **दन्तस्थान** की तुल्यता से **'द्'** आदेश होगा। इसी तरह **प्, फ्, ब्, भ्** के स्थान पर **ओष्ठस्थान** की तुल्यता से **'ब्'** आदेश होगा।

वागीशः। वाणी के स्वामी। **वाक्+ईशः** में **वाक्** शब्द का **ईशः** शब्द के साथ समास हुआ है। **वाक्** एक पद है। पद के अन्त में **क्** है। इसलिये **पदान्त झल्** है **वाक्** का **ककार**। इसके स्थान पर जश् अर्थात् **ज्, ब्, ग्, ड्, द्** ये पाँचों प्राप्त हुए। यहाँ भी

अनुनासिकादेशविधायकं विधिसूत्रम्

६८. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्।

एतन्मुरारिः, एतद् मुरारिः।

वार्तिकम्- **प्रत्यये भाषायां नित्यम्।** तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

....

एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति हुई, इसलिये अनियम हुआ तो **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से **कण्ठस्थान** वाले स्थानी **ककार** के स्थान पर **कण्ठस्थान** वाला ही **ग्** आदेश हुआ। **वाग्+ईशः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **वागीशः** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

(क) **झलां जशोऽन्ते** इस सूत्र में **पदान्त** ऐसा अर्थ कैसे बनता है?

(ख) **झलां जशोऽन्ते** यह सूत्र त्रिपादी है या सपादसप्ताध्यायी?

(ग) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

अजन्तः। वागत्र। जगदीशः। षष्+अत्र। अप्+जम्। तिबन्तः। सुबन्तः। कृदन्तः। समिध्+आदानम्। रामाद्+गृह्णाति।

६८- **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा।** यरः षष्ठ्यन्तम्, अनुनासिके सप्तम्यन्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तं, वा अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** सूत्र का अधिकार आ रहा है।

अनुनासिक के पर में रहते पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

यदि पर में कोई **अनुनासिक** वर्ण हो और पूर्व में पद के अन्त में विद्यमान **यर्** प्रत्याहार के वर्ण हों तो **यर्** के स्थान पर **अनुनासिक** आदेश होगा विकल्प से। अनुनासिक भी दो प्रकार के होते हैं- अच् अनुनासिक और हल् अनुनासिक। जिनका उच्चारण नाक और मुख से हो वे अच्वर्ण और हल्वर्ण **अनुनासिक** कहलाते हैं- **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। ङ्, ञ् ण्, न्, म्** ये नाक और मुख से उच्चारण होने वाले हल्वर्ण **अनुनासिक** हैं। यहाँ पर **अनुनासिक** से **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ही ग्रहण किये गये हैं। इस सूत्र के लगने के बाद भी **स्थानेऽन्तरतमः** की आवश्यकता होगी क्योंकि स्थानी कोई एक वर्ण होगा और आदेश में उक्त पाँचों प्राप्त होंगे।

एतन्मुरारिः। एतत्+मुरारिः इस स्थिति में **झलां जशोऽन्ते** सूत्र से **तकार** के स्थान पर **जश्त्व** होकर **एतद् मुरारि** बना है। अब **यरोऽनुनासिकेऽनासिको वा** की उपस्थिति हुई। अनुनासिक परे है **मुरारिः** का **मकार** और पदान्त यर् है- एतद् का **दकार।** अब **एतद्** के **दकार** के स्थान पर अनुनासिक अर्थात् **ङ्, ञ्, ण्, न्, म्** ये सभी प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच अनुनासिकों की प्राप्ति होना भी अनियम हुआ तो **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से स्थान मिलाने से **दन्तस्थान** वाले दकार के स्थान पर दन्तस्थान वाला ही नकार आदेश हुआ। अतः द् को हटाकर **न्** आदेश हुआ- **एतन्+मुरारिः** बना। वर्णसम्मेलन हुआ- न्+मु=न्मु, **एतन्मुरारिः** बना। अनुनासिक न होने के पक्ष में **एतद् मुरारिः** ही रह गया।

प्रत्यये भाषायां नित्यम्। यह वार्तिक है। **अनुनासिक वर्ण आदि में हो ऐसे**

परसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

६९. तोर्लि ८।४।६०॥

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः।

तल्लयः। विद्वाल्ँलिखति। नस्यानुनासिको लः।

....

प्रत्यय के परे होने पर लौकिक प्रयोगों में पदान्त यर् के स्थान पर नित्य से अनुनासिक होता है।

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा से वैकल्पिक प्राप्त अनुनासिक आदेश को अनुनासिकादि के परे होने पर **नित्य** से करने के लिए वार्तिक का अवतरण हुआ।

तन्मात्रम्। उतना ही। **तत्+मात्रम्** में तत् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **दकार** आदेश हुआ, **तद्** बना। **मात्रच्** प्रत्यय है, उसके परे होने पर **तद्** के **दकार** के स्थान पर **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** से **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से नित्य से अनुनासिक **नकार** आदेश हुआ, **तन्+मात्रम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **तन्मात्रम्** सिद्ध हुआ।

चिन्मयम्। चेतन-स्वरूप। **चित्+मयम्** में चित् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर दकार आदेश हुआ, **चिद्** बना। **मयट्** प्रत्यय है, उसके परे होने पर चिद् के दकार के स्थान पर **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** से **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से नित्य से अनुनासिक **नकार** आदेश हुआ, **चिन्+मयम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **चिन्मयम्** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

(क) **अनुनासिक** किसे कहते हैं?

(ख) विकल्प से होने का क्या अर्थ है?

(ग) क्या **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** यह सूत्र **स्तोः श्चुना श्चुः** का अपवाद हो सकता है? यदि है तो क्यों? औरयदि नहीं तो क्यों नही?

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

जगन्नाथः। मन्माता। षण्मासाः। वाङ्मयम्। किञ्चिन्मात्रम्। वाक्+मलम्। सत्+मार्गः। त्वत्+मनः। इद्+निषेधः। तत्+न। चिन्मात्रम्। तन्मयम्।

६९- तोर्लि। तोः पष्ठ्यन्तं, लि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से **परसवर्णः** की अनुवृत्ति आती है।

लकार के परे होने पर तवर्ग के स्थान पर परसवर्ण आदेश होता है।

पर में जो वर्ण, उसके जो सवर्णी, वे सब पूर्व में विद्यमान तवर्ग के स्थान पर आदेश के रूप में होते हैं। **लकार** के परे होने पर पूर्व के तवर्ग के स्थान **लकार** के ही **सवर्णी** आदेश रूप में हो जाते हैं। पर में विद्यमान लकार के सवर्णी **अनुनासिक** और **अननुनासिक लँ्** और **ल्** ही हैं। यदि पूर्व का तवर्ग **अननुनासिक** अर्थात् **त्, थ्, द्, ध्** हो तो उनके स्थान पर **ल्** और यदि पूर्व का वर्ण अनुनासिक **न्** है तो उसके स्थान पर **लँ्** आदेश हो जाता है। वैसे पूर्व में केवल दकार और नकार ही मिलते है क्योंकि इसके पहले **त्, थ्, ध्** के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **द्** बन चुका होता है, तब यह

पूर्वसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

७०. उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१॥

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

७१. तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७॥

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

....

सूत्र लगता है। अतः **दकार** के स्थान पर ल्, और **नकार** के स्थान पर लँ् ही आदेश होंगे। **नकार** के स्थान पर लँ् का अनुनासिकत्व से साम्य के कारण होता है।

तल्लयः। उसमें नाश या उसका नाश, उसमें मिलना या उसका मिलना। **तत्+लयः** में **तत्** के **तकार** के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से **जश्** प्राप्त हुए और **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से स्थान की साम्यता के कारण **दकार** आदेश हुआ- **तद्+लयः** बना। **लयः** के **लकार** के परे होने पर तवर्ग **दकार** के स्थान पर **परसवर्ण** प्राप्त हुआ। पर में **लकार** है और उसके सवर्णी ल् और लँ् ये दोनों प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से **दन्तस्थान** और **अननुनासिकत्व** की तुल्यता से द् के स्थान पर ल् आदेश हुआ- **तल्+लयः** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **तल्लयः** सिद्ध हुआ।

विद्वाल्ँलिखति। विद्वान् लिखते हैं। **विद्वान्+लिखति** में **लकार** के परे होने पर तवर्ग **नकार** के स्थान पर परसवर्ण प्राप्त हुआ। पर में लकार है और उसके सवर्णी **ल्** और **लँ्** ये दोनों प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** की सहायता से दन्तस्थान और अनुनासिक की नासिकास्थान की तुल्यता से न् के स्थान पर लँ् आदेश हुआ- **विद्वालँ्+लिखति** बना। वर्णसम्मेलन होने पर **विद्वाल्ँलिखति** सिद्ध हुआ।

७०- उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य। स्था च स्तम्भ् च तयोरितरेतरद्वन्द्वः स्थास्तम्भौ, तयोः स्थास्तम्भोः। इस सूत्र में **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से **सवर्णः** की अनुवृत्ति आती है।

उत् उपसर्ग से परे स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होता है।

इस सूत्र में **परे** यह अर्थ **तस्मादित्युत्तरस्य** इस परिभाषा सूत्र के बल पर निकलता है। पहले इस सूत्र में **पूर्व और पर** की व्यवस्था नहीं थी। सूत्र के अनुसार तो **उत्** से किसी भी ओर (पूर्व या पर) विद्यमान स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण का विधान था। ये दो धातु **उत्** से पूर्व में हों या पर में? यह अनियम हुआ तो नियमार्थ परिभाषा सूत्र आता है- **तस्मादित्युत्तरस्य।**

७१- तस्मादित्युत्तरस्य। तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणम् (इति अव्ययपदं), उत्तरस्य षष्ठ्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

पञ्चम्यन्त पद के निर्देश से किया जाने वाला कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिए।

यह सूत्र **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** का प्रतिरूपक है। वह **पर से अव्यवहित पूर्व के स्थान पर** होने का विधान करता है तो यह **पूर्व से अव्यवहित पर के स्थान पर** होने का विधान करता है। **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** आदि सूत्रों में **उदः** ऐसा पञ्चम्यन्त पद, उससे निर्दिष्ट कार्य किसी वर्ण के व्यवधान के विना **उत्** आदि से पर में विद्यमान के स्थान पर होना चाहिए।

नियमकारकं परिभाषासूत्रम्

७२. आदेः परस्य १।१।५४॥

परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थः।

वैकल्पिकलोपविधायकं विधिसूत्रम्

७३. झरो झरि सवर्णे ८।४।६५॥

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

चरादेशविधायकं विधिसूत्रम्

७४. खरि च ८।४।५५॥

खरि झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम्। उत्तम्भनम्।

....

यह परिभाषा सूत्र है। परिभाषाएँ स्वतन्त्रतया कुछ कार्य नहीं करतीं किन्तु विधिसूत्रों में जाकर एक व्यवस्था अथवा नियम बना देती हैं। उनके साथ मिलकर एक मिश्रित अर्थ को निकालती हैं। जैसे- **संयोगान्तस्य लोपः** में **अलोऽन्त्यस्य** से **अन्त्यस्य** जाकर सूत्रार्थ बनाया- **संयोगान्त पद के अन्त्य वर्ण का लोप हो।** इसी तरह **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** में **तस्मादित्युत्तरस्य** जाकर **अव्यवहित पर** यह अर्थ किया।

७२- आदेः परस्य। आदेः षष्ठ्यन्तं, परस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **अलोऽन्त्यस्य** से **अलः** की अनुवृत्ति आती है। **पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है, वह कार्य उसके आदि अल् के स्थान पर होता है।**

षष्ठ्यन्त पद के निर्देश से किया जाने वाला आदेश अन्त्य वर्ण के स्थान पर होता है, ऐसा **अलोऽन्त्यस्य** सूत्र ने बताया था। इसके क्षेत्र को सीमित करते हुए यह सूत्र कहता है कि किसी से पर में विद्यमान को यदि कोई कार्य हो रहा हो तो उस पर के अन्त्य को कार्य न होकर आदि को हो। जैसे- प्रकृत में उद् से पर में विद्यमान **स्था** और **स्तम्भ** को पूर्वसवर्ण आदेश हो रहा है किन्तु वह आदेश षष्ठ्यन्त **स्थास्तम्भोः** से निर्दिष्ट होने के कारण अन्त्य **आ** और **भ्** को प्राप्त था। इस सूत्र के होने पर आदि सकार के स्थान पर ही कार्य होता है।

७३- झरो झरि सवर्णे। झरः षष्ठ्यन्तं, झरि सप्तम्यन्तं, सवर्णे सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **हलो यमां यमि लोपः** से **हलः** और **लोपः** तथा **झयो होऽन्यतरस्याम्** से **अन्यतरस्याम्** की अनुवृत्ति आती है। **अन्यतरस्याम्** का अर्थ **विकल्प से** है।

हल् से परे झर् का विकल्प से लोप होता है सवर्ण झर् के परे होने पर।

यहाँ पर **झरः झरि** इन पदों को देखकर **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** की प्रवृत्ति मानकर यथासङ्ख्य नहीं मानना चाहिए। यदि यथासङ्ख्य होता तो **झरो झरि** ही पढ़ा जाता, **सवर्णे** की आवश्यकता नहीं थी। **सवर्णे** यह पद यथासङ्ख्य का निराकरण करता है। अतः **झर्** प्रत्याहार के किसी वर्ण के परे होने पर यदि वह वर्ण पूर्व **झर्** का **सवर्णी** हो तो पूर्व के **झर्** का वैकल्पिक लोप होता है। **झर्** प्रत्याहार में वर्ग के **प्रथम, द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** अक्षर तथा **श्, ष्, स्** ये वर्ण आते हैं।

७४- खरि च। खरि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **झलां जश् झशि** से **झलां** तथा **अभ्यासे चर्च** से **चर्** की अनुवृत्ति आती है।

खर् के परे रहने पर झल् के स्थान पर चर् आदेश होता है।

झल् में झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स्, ह् इतने वर्ण और चर् में च्, ट्, त्, क्, प्, श्, ष्, स् वर्ण आते हैं। श्, ष्, स् के स्थान पर चर् आदेश होने पर क्रमशः श्, ष्, स् ही होंगे। यद्यपि श् के स्थान पर च् की, ष् के स्थान पर ट् की और स् के स्थान पर त् की प्राप्ति भी हो सकती थी किन्तु स्थानी शकार के स्थान पर आदेश चकार का केवल स्थान मात्र मिलत है किन्तु स्थानी शकार के स्थान पर आदेश शकार के साथ स्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न और बाह्यप्रयत्न ये तीनों मिलते हैं। अतः अधिक तुल्यता होने के कारण श् के स्थान पर श् एवं ष् के स्थान पर ष् और स् के स्थान पर स् ही होता है। अतः चर् आदेश का तात्पर्य केवल च्, ट्, त्, क्, प् से ही रहेगा। श्, ष्, स्, ह् को छोड़कर शेष झल् में वर्ग के **प्रथम**, **द्वितीय**, **तृतीय** और **चतुर्थ** अक्षर आते हैं।

स्थानेऽन्तरतमः के नियम से स्थान की तुल्यता से क्, ख्, ग्, घ् के स्थान पर क् आदेश, च्, छ्, ज्, झ् के स्थान पर च् आदेश, ट्, ठ्, ड्, ढ् के स्थान पर ट् आदेश, त्, थ्, द्, ध् के स्थान पर त् आदेश और प्, फ्, ब्, भ् के स्थान पर प् आदेश होंगे।

उत्थानम्। उत्+स्थानम् में **झलां जशोऽन्ते** से **तकार** के स्थान पर **जश्त्व** होकर **दकार** हो गया, उद्+स्थानम् बना। अब सूत्र लगा- **उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य। तस्मादित्युत्तरस्य** की सहायता से उद् उपसर्ग से परे **स्था** को पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। **स्थास्तम्भोः** षष्ठ्यन्त होने के कारण **अलोऽन्त्यस्य** के नियम में षष्ठीनिर्दिष्ट आदेश अन्त्य के स्थान पर होता है तो **स्था** के **अन्त्य** वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण प्राप्त हो रहा था, उसे बाधकर परिभाषा सूत्र लगा- **आदेः परस्य।** पर के स्थान पर जो विधान किया जाता है वह पर के आदि अल् के स्थान पर होता है। पर है **स्था** और उसका आदि **अल्** है **स्**, सो उसके स्थान पर **पूर्वसवर्ण** प्राप्त हुआ। यहाँ पर पूर्व के सवर्णी कौन हैं? **स्था** से पूर्व में **द्** है, उसके **सवर्णी** हैं- त्, थ्, द्, ध् और न्। सकार के स्थान पर ये पाँचों प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच-पाँच वर्ण प्राप्त हुए, अनियम हुआ। नियमार्थ परिभाषा सूत्र लगा- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान से मिलाने पर भी अनियम हुआ, क्योंकि स्थानी **सकार** का **दन्तस्थान** और आदेशों के वर्ण भी सब के सब **दन्तस्थान** वाले हैं, अतः पुनः अनियम हुआ। अर्थ से मिलाने पर एक सकार का अर्थ नहीं है। **गुण** अर्थात् **आभ्यन्तर** और **बाह्य प्रयत्न। आभ्यन्तर प्रयत्न** से मिलाने पर भी अनियम ही हो रहा है, क्योंकि **सकार** का **ईषद्विवृत प्रयत्न** है और आदेशों में **ईषद्विवृत प्रयत्न** वाला कोई वर्ण नहीं है। अतः **बाह्यप्रयत्न** से मिलाया गया। बाह्यप्रयत्न में स्थानी **सकार** का **विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न** है। इसी तरह आदेश त्, थ्, द्, ध्, न् में **विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न** वाला केवल **थ्** मिलता है, अतः **सकार** को हटाकर **थकार** बैठ गया- **उद्+थ्+थानम्** बना। इसके बाद द्वितीय **थकार** को **झर्** परे मानकर प्रथम **थकार** का **झरो झरि सवर्णे** से वैकल्पिक लोप हुआ- **उद्+थानम्** बना। **दकार** के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर **तकार** बन गया। **उत्+थानम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उत्थानम्** सिद्ध हुआ। **झरो झरि सवर्णे** से **थकार** के लोप न होने के पक्ष में दो थकार वाला **उत्थ्थानम्** रूप बन जाता है।

उत्तम्भनम्। उत्+स्तम्भनम् में **झलां जशोऽन्ते** से **तकार** के स्थान पर जश्त्व होकर **दकार** हो गया, उद्+स्तम्भनम् बना। अब सूत्र लगा- **उदः स्थास्तम्भो पूर्वस्य।**

वैकल्पिकपूर्वसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

७५. झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२॥

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः।

नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य तादृशो वर्गचतुर्थः।

वाग्घरिः, वाग्हरिः।

....

तस्मादित्युत्तरस्य की सहायता से **उद्** उपसर्ग से परे **स्तम्भ्** को पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। **स्थास्तम्भोः** षष्ठ्यन्त होने के कारण **अलोऽन्त्यस्य** के नियम में षष्ठीनिर्दिष्ट आदेश अन्त्य के स्थान पर होता है तो **स्तम्भ** के अन्त्य वर्ण के स्थान पर पूर्वसवर्ण प्राप्त हो रहा था, उसे बाधकर परिभाषा सूत्र लगा- **आदेः परस्य**। पर के स्थान पर जो विधान किया जाता है वह कार्य पर के आदि अल् के स्थान पर होता है। पर है **स्तम्भ्** और उसका आदि **अल्** है **स्**, उसके स्थान पर **पूर्वसवर्ण** प्राप्त हुआ। **स्था** से पूर्व में **द्** है, उसके **सवर्णी** हैं- **त्, थ्, द्, ध्** और **न्**। अतः **सकार** के स्थान पर ये पाँचों प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच-पाँच वर्ण प्राप्त हुए, अनियम हुआ। नियमार्थ परिभाषा सूत्र लगा- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान से मिलाने पर भी अनियम हुआ, क्योंकि स्थानी **सकार** का **दन्तस्थान** और आदेशों के वर्ण भी सब के सब **दन्तस्थान** वाले हैं, अतः पुनः अनियम हुआ। अर्थ से मिलाने पर एक सकार का अर्थ नहीं है। **गुण** अर्थात् **आभ्यन्तर** और **बाह्य प्रयत्न**। **आभ्यन्तर प्रयत्न** से मिलाने पर भी अनियम ही हो रहा है, क्योंकि **सकार** का **ईषद्विवृत प्रयत्न** है और **आदेशों** में **ईषद्विवृत प्रयत्न** वाला कोई वर्ण नहीं है। अतः **बाह्यप्रयत्न** से मिलाया गया। **बाह्यप्रयत्न** में स्थानी **सकार** का **विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न** है, इसी तरह आदेश **त्, थ्, द्, ध्, न्** में **विवार, श्वास, अघोष, महाप्राण प्रयत्न** वाला केवल **थ्** मिलता है। अतः **सकार** को हटाकर **थ्** बैठ गया- **उद्+थ्+तम्भनम्** बना। इसके बाद **तकार** को **झर्** परे मानकर **थकार** का **झरो झरि सवर्णे** से वैकल्पिक लोप हुआ- **उद्+तम्भनम्** बना। **दकार** के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर **तकार** बन गया। **उत्+तम्भनम्** बना। वर्णसम्मेलन होकर **उत्तम्भनम्** सिद्ध हुआ। **झरो झरि सवर्णे** से **थकार** के लोप न होने के पक्ष में दो **थकार** वाला **उत्थतम्भनम्** रूप बन जाता है।

अभ्यासः

१. निम्नलिखित रूप सिद्ध करें-
   उत्+स्थाय। भेद्+तुम्। छेद्+तव्यम्। उत्थातव्यम्। हनुमान्+लङ्का। युयुध्+सुः।

२. **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** और **तस्मादित्युत्तरस्य** की तुलना करें।

३. **अलोऽन्त्यस्य** और **आदेः परस्य** में बाध्यबाधकभाव प्रदर्शित करें।

४. **खरि च** इस सूत्र से चर्त्व होने पर **श्, ष्, स्** के स्थान पर क्या आदेश होंगे?

५. निम्नलिखित प्रयोगों की सिंद्धि करें-
   तद्+त्वम्। प्रमद्+तः। लिभ्+सा। युयुध्+सवः। त्वद्+तः। तत्तरति। यत्तनोति।

७५- झयो होऽन्यतरस्याम्। झयः पञ्चम्यन्तं, हः षष्ठ्यन्तम्, अन्यतरस्यां सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य** से **पूर्वस्य** और **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से **सवर्णः** की अनुवृत्ति आती है।

झय् से परे हकार के स्थान पर विकल्प से पूर्वसवर्ण होता है।

पूर्व में **झय्** हो। **झय्** में वर्ग के **प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ** अक्षर आते हैं। उनमें से **प्रथम, द्वितीय** और **तृतीय** अक्षरों के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर वर्ग की तीसरा वर्ण आदेश हो चुका होता है। अतः वर्ग का तीसरा वर्ण ही **झय्** के रूप में मिलेगा। यदि हकार से पूर्व में **ग्** होगा तो उसके सवर्णी **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** प्राप्त होंगे। यदि **ज्** होगा तो उसके सवर्णी **च्, छ्, ज्, झ्, ञ्**, यदि **ड्** होगा तो **ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्**, यदि **द्** होगा तो उसके सवर्णी **त्, थ्, द्, ध्, न्** और यदि **ब्** होगा तो उसके सवर्णी **प्, फ्, ब्, भ्, म्** ये आदेश के रूप में प्राप्त होंगे। एक के स्थान पर पाँच-पाँच प्राप्त होने पर अनियम होगा। **स्थानेऽन्तरतमः** के नियमानुसार **स्थान, अर्थ, गुण और प्रमाणों** से तुल्यतम आदेश होगा। यहाँ पर स्थान से बात बनेगी नहीं, अर्थ से भी नहीं बनने वाली है। गुण का अर्थ **प्रयत्न** है। **आभ्यन्तर प्रयत्न** से नियम नहीं बन पा रहा है क्योंकि स्थानी **हकार** का ही प्रयत्न आदेश में भी होना चाहिए। अन्ततः वाह्यप्रयत्न से मिलाने पर **हकार** का **संवार, नाद, घोष, महाप्राण प्रयत्न** है। आदेशों में भी इन्हीं प्रयत्न वाले वर्ण केवल वर्ग के **चतुर्थ** अक्षर **घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्** मिलते हैं। अतः इनमें से ही आदेश होगा। इस तरह से पूर्व में **ग्** होने पर **हकार** के स्थान पर **घ्** होगा। इसी तरह पूर्व में **ज्** होने पर **झ्** एवं **ड्** के होने पर **ढ्**, होगा। इसी तरह **द्** होने पर **ध्**, और **ब्** होने पर **भ्** आदेश हो जायेंगे। अतः मूल में लिखा गया- **नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः**। इस तरह **वाग्+हरिः** में **संवार नाद घोष महाप्राण** प्रयत्न वाले **हकार** के स्थान पर वैसा ही वर्ग का चतुर्थ अक्षर **घकार** आदेश होता है।

वाग्घरिः, वाग्हरिः। वाणी में श्रेष्ठ, बोलने में चतुर। **वाक्+हरिः** में **झलां जशोऽन्ते** से जश्त्व होकर **ककार** के स्थान पर **गकार** हो गया, **वाग्+हरिः** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **झयो होऽन्यतरस्याम्**। झय् है **वाग्** का **गकार**, उससे परे **हकार** है **हरिः** का **हकार**। हकार से पूर्व में **गकार** है, उसके **सवर्णी** हैं- **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्**। अतः **हरिः** के **हकार** के स्थान पर **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ये सभी **पूर्वसवर्णी** प्राप्त हुए। एक के स्थान पर पाँच वर्णों की प्राप्ति होना अनियम हुआ। अतः नियमार्थ सूत्र आया- **स्थानेऽन्तरतमः**। स्थान से मिलाने पर **हकार** का कण्ठस्थान है और पाँचों आदेशों का भी **कण्ठस्थान** ही है। अतः नियम नहीं बना। अर्थ की साम्यता मिलाने पर एक **हकार** का क्या अर्थ हो सकता है? और आदेशों का भी कोई निश्चित अर्थ नहीं है। अतः फिर भी नियम नहीं बना। गुण की तुल्यता मिलाने पर **आभ्यन्तर प्रयत्न** से भी अनियम ही बना, क्योंकि **हकार** का **आभ्यन्तर प्रयत्न** में **ऊष्मसंज्ञक** होने के कारण **ईषद्विवृत** प्रयत्न है। आदेश **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** में से किसी का भी **ईषद्विवृत** प्रयत्न नहीं है। अतः **बाह्यप्रयत्न** से मिलाया गया। **बाह्यप्रयत्न** में **हकार** का **संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न** है। आदेशों में यही प्रयत्न वाला केवल **घ्** ही है, क्योंकि **क्, ग्**, और **ङ्** ये वर्ण **अल्पप्राण प्रयत्न** वाले हैं, इसलिए नहीं मिलते। **ख्** का **विवार, श्वास, अघोष प्रयत्न** होने के कारण नहीं मिलता। केवल **घ्** ही तादृश संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न वाला है। अतः **हरिः** के हकार को मिटाकर **घ्** बैठ गया। **वाग्घरिः** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **हकार** ही रह गया- **वाग्हरिः**।

वैकल्पिकछत्वविधायकं विधिसूत्रम्

७६. शश्छोऽटि ८।४।६३॥

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। **तद्+शिव** इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते **खरि चेति** जकारस्य चकारः। तच्छिवः, तच्शिवः।

वार्तिकम्- **छत्वममीति वाच्यम्।** तच्छ्लोकेन।

....

अब इसी तरह निम्नलिखित प्रयोगों की भी सिद्धि करें-

समुद्+हर्ता=**समुद्धर्ता**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर ध् आदेश हुआ।
अच्+हीनम्=**अज्झीनम्**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर झ् आदेश हुआ।
मधुलिड्+हसति=**मधुलिड्ढसति**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर ढ् आदेश हुअ।
दूराद्+हूते च= **दूराद्धूते च**। यहाँ पर पूर्ववर्ण का सवर्णी चतुर्थ अक्षर ध् आदेश हुआ।

७६- शश्छोऽटि। शः षष्ठ्यन्तं, छः प्रथमान्तम्, अटि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **झयो होऽन्यतरस्याम्** से **झयः** और **अन्यतरस्याम्** की अनुवृत्ति आती है।

झय् से परे शकार के स्थान पर छकार आदेश विकल्प से होता है, अट् के परे होने पर।

पूर्व में **झय्**-प्रत्याहार का वर्ण हो और **पर** में **अट्**-प्रत्याहार का वर्ण तथा मध्य में **शकार** हो तो उस **शकार** के स्थान पर एक पक्ष में **छकार** आदेश और एक पक्ष में **शकार** ही रहेगा। त्रिपादी, उसमें भी चतुर्थ पाद के लगभग अन्तिम का सूत्र होने के कारण यह सूत्र प्रायः पूर्व के सभी सूत्रों की दृष्टि में **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से असिद्ध रहता है। अतः श्चुत्व, जश्त्व, चर्त्व आदि कार्य इसके पहले ही होंगे।

तच्छिवः, तच्शिवः। वह कल्याणकारी है। **तत्+शिवः** में **तत्** के **तकार** के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से **जश्त्व** होकर **तद्+शिवः** बना। **शिवः** के **शकार** के योग में **तद्** के **दकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से चुत्व होकर **तज्+शिवः** बना। **जकार** के स्थान पर **खरि च** से चर्त्व होकर **तच्+शिवः** बना। अब सूत्र लगा- **शश्छोऽटि**। झय् है **तच्** का **चकार**, उससे परे **शकार** है **शिवः** का **शकार** और उस **शकार** से **अट्** परे है **शि** में शकारोत्तरवर्ती **इकार**। अतः **शकार** के स्थान पर विकल्प से **छकार** आदेश हुआ- **तच्+छिवः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **तच्छिवः** सिद्ध हुआ। वैकल्पिक होने के कारण एक पक्ष में नहीं हुआ तो **तच्शिवः** ही रह गया।

इसी तरह जगत्+शान्ति=जगच्छान्तिः, यावत्+शक्यम्=यावच्छक्यम्, प्राक्+शेते=प्राक्छेते, जगत्+शिष्यः=जगच्छिष्यः, मत्+शिरः=मच्छिरः आदि बनाये जाते हैं।

छत्वममीति वाच्यम्। यह वार्तिक है। **शश्छोऽटि** में **अटि** के स्थान पर **अमि** कहना चाहिए अर्थात् **झय् से परे शकार के स्थान पर छकार आदेश विकल्प से हो अम् के परे रहने पर** ऐसा अर्थ होना चाहिए।

तच्छ्लोकेन। **अटि** के स्थान पर **अमि** पढ़ने पर **तत्+श्लोकेन** में भी **शकार** के स्थान पर **छकार** आदेश हो सकेगा। **अट्** प्रत्याहार में **लकार** नहीं आता है, अतः **छत्व** प्राप्त नहीं था। सूत्र में **अमि** कहने पर **अम्** प्रत्याहार में **लकार** के आने कारण **छत्व** होने में कोई समस्या नहीं रहेगी। फलतः **छत्व** होकर **तच्छ्लोकेन** यह रूप सिद्ध होगा।

अनुस्वारविधायकं विधिसूत्रम्

७७. मोऽनुस्वारः ८।३।२३॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

अनुस्वारविधायकं विधिसूत्रम्

७८. नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः।

यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यते।

....

७७- **मोऽनुस्वारः**। मः षष्ठ्यन्तम्, अनुस्वारः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **हलि सर्वेषाम्** से **हलि** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार आ रहा है।

मकारान्त पद के अन्त्य को अनुस्वार होता है हल् के परे होने पर।

येन विधिस्तदन्तस्य इस परिभाषासूत्र से तदन्तविधि होकर **मकारान्त पद** ऐसा अर्थ बना। **अलोऽन्त्यस्य** से **अन्त्यस्य** आता है अथवा इस सूत्र से **मकारान्त पद** को **अनुस्वार** आदेश होने पर **अलोऽन्त्यस्य** यह परिभाषा सूत्र **अन्त्य के स्थान पर होने** का नियम करता है। पद के अन्त में यदि **मकार** है और आगे **हल् परे** है तो **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** आदेश हो जाता है। हल् परे होना इसलिए जरूरी है कि **अच्** परे रहने पर अनुस्वार न हो। यहाँ पर कोई अनियम नहीं बनता। क्योंकि संसार में **मकार** भी एक ही होगा और अनुस्वार नाम वाला भी एक ही है। एक स्थानी के स्थान पर एक ही आदेश प्राप्त हो तो कोई अनियम नहीं है।

हरिं वन्दे। हरि को प्रणाम करता हूँ। **हरिम्+वन्दे** में **हरिम्** द्वितीया विभक्ति के एकवचन का रूप है। सुबन्त होने के कारण पदसंज्ञा हुई है और पद के अन्त में विद्यमान है **हरिम्** का **मकार**। हल् परे है- **वन्दे** का **वकार**। अतः **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** (ऊपर बिन्दी) होकर **हरिं वन्दे** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

(क) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

शत्रुम्+जयति। पुस्तकम् पठति। भारतम्+वन्दे। गुरुम् नमति। शिवम्+वन्दे। ओदनं खादामि। पत्रम्+लिखामि। त्वम्+गच्छसि। मातरम् पृच्छसि। पुस्तकम्+क्रीणाति।

(ख) क्या **मोऽनुस्वारः** यह सूत्र **खरि च** का बाधक सूत्र है?

७८- **नश्चापदान्तस्य झलि**। पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तः, तस्य अपदान्तस्य। नः षष्ठ्यन्तं, च अव्ययपदम्, अपदान्तस्य षष्ठ्यन्तं, झलि सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **मः** इस पद की अनुवृत्ति **मोऽनुस्वारः** से आती है।

अपदान्त नकार और मकार के स्थान पर अनुस्वार आदेश होता है झल् के परे होने पर।

मोऽनुस्वारः यह सूत्र **पद के अन्त में विद्यमान मकार के स्थान पर अनुस्वार करता है** और **नश्चापदान्तस्य झलि** यह सूत्र **अपदान्त में विद्यमान मकार और नकार दोनों के स्थान पर अनुस्वार करता है**। यहाँ पर **स्थानेऽन्तरतमः** जैसे परिभाषा सूत्र की

परसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

७९. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८॥

स्पष्टम्। शान्तः।

....

भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आदेश केवल एक ही अनुस्वार है। अनियम वहाँ पर होता है जहाँ अनेक आदेशों की प्राप्ति होती है।

यशांसि। वहुत यश। **यशान्+सि** ऐसी स्थिति है। **यशांसि** यह पूरा पद है, केवल **यशान्** पद नहीं है। अपदान्त नकार है **यशान्** का **नकार** और झल् परे है **सि** का **सकार**। अतः **नश्चापदान्तस्य झलि** सूत्र से **यशान्** के **नकार** के स्थान पर अनुस्वार हो गया- **यशांसि**।

आक्रंस्यते। आक्रमण करेगा, ऊपर चढ़ेगा। **आक्रम्+स्यते** ऐसी स्थिति है। अपदान्त **मकार** है **आक्रम्** का **मकार** और झल् परे है **स्यते** का **सकार**। अतः **आक्रम्** के **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हो गया- **आक्रंस्यते**।

झलि किम्? मन्यते। यहाँ पर यह प्रश्न करते हैं कि **नश्चापदान्तस्य झलि** में **झलि** यह पद क्यों पढ़ा गया? उत्तर देते हैं कि **मन्यते** आदि जगहों पर दोष न आये, इसलिए। यदि **झलि** नहीं पढ़ते तो झल् हो या न हो, सर्वत्र यह सूत्र लगता। फलतः **मन्+यते** में झल् परे न होने पर भी **मन्** के नकार के स्थान पर अनुस्वार हो जाता और **मंयते** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। उक्त दोष के निवारणार्थ यहाँ पर **झलि** पढ़ा गया।

अभ्यासः

(क) **मोऽनुस्वारः** और **नश्चापदान्तस्य झलि** इन दोनों सूत्रों की तुलना करिये।

(ख) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-

नम्+स्यति। मनान्+सि। पयान्+सि। श्रेयांसि। हंसि।

७९- अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः। परस्य सवर्णः- परसवर्णः, षष्ठी तत्पुरुषः। अनुस्वारस्य षष्ठ्यन्तं, ययि सप्तम्यन्तं, परसवर्णः प्रथमान्तं त्रिपदमिदं सूत्रम्।

यय् प्रत्याहार के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण होता है।

परसवर्ण का अर्थ है- पर में जो वर्ण है उसके सवर्णियों में से आदेश होना। यय् प्रत्याहार में समस्त हलों में से केवल **ह्, श्, ष्, स्** को छोड़कर बाकी सारे हल्वर्ण आते हैं। पर के सवर्णी अनेक हो सकते हैं। अतः **स्थानेऽन्तरतमः** इस परिभाषा सूत्र की आवश्यकता पड़ेगी। यह सूत्र अनुस्वार हो जाने के बाद ही लगता है। अतः इस सूत्र के पूर्वप्रवृत्त सूत्र हैं- **मोऽनुस्वारः** और **नश्चापदान्तस्य झलि**।

शान्तः। **शाम्+तः** में पहले **नश्चापदान्तस्य झलि** से **शाम्** के **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **शां+तः** बना। उसके बाद सूत्र लगा- **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**। यय् प्रत्याहार है **तः** का **तकार** और **शां** में **अनुस्वार** है ही। उसके स्थान पर परवर्ण के सवर्णी प्राप्त हुए। अनुस्वार से परे है **तः** का **तकार** और **तकार** के सवर्णी हैं- **त्, थ्, द्, ध्, न्**। **अनुस्वार** के स्थान पर ये पाँचों प्राप्त हुए। अतः अनियम हुआ और नियमार्थ **स्थानेऽन्तरतमः** की प्रवृत्ति हुई और स्थान से मिलाने पर स्थानी **अनुस्वार** का **नासिका स्थान** है और आदेश **त्, थ्, द्, ध्, न्** में से **नासिकास्थान** वाला वर्ण केवल **न्** है। अतः अनुस्वार के स्थान पर **नकार** आदेश हो गया। **शान्+तः** बना, वर्णसम्मेलन होकर **शान्तः** सिद्ध हुआ।

वैकल्पिकपरसवर्णविधायकं विधिसूत्रम्

८०. वा पदान्तस्य ८।४।५९॥

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

मकारादेशविधायकं नियमसूत्रम्

८१. मो राजि समः क्वौ ८।३।२५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

....

८०- **वा पदान्तस्य**। वा अव्ययपदं, पदान्तस्य षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** यह समग्र सूत्र इस सूत्र में अनुवृत्त होता है।

पदान्त अनुस्वार के स्थान पर यय् के परे रहते परसवर्ण होता है।

यह सूत्र **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** का बाधक सूत्र है क्योंकि वह **पदान्त** एवं **अपदान्त** दोनों में **परसवर्ण नित्य से करता है** और यह सूत्र केवल **पदान्त में ही परसवर्ण करता है** विकल्प से। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से अवश्य प्राप्त होने पर **वा पदान्तस्य** का आरम्भ हुआ है। **यस्य नाप्राप्ते(न+अप्राप्ते, अवश्यप्राप्ते) यो विधिरारम्भ्यते स तस्य बाधको भवति।**

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि। तुम करते हो। **त्वम्+करोषि** में पहले **मोऽनुस्वारः** से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** होगा। उसके बाद **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** से नित्य से **परसवर्ण** प्राप्त था, उसे बाधकर सूत्र लगा- **वा पदान्तस्य**। पदान्त अनुस्वार है **त्वं** का **अनुस्वार** और **यय्** प्रत्याहार परे है **करोषि** का **ककार**। अतः **अनुस्वार** के स्थान पर परवर्ण **ककार** के सवर्णी **क्, ख्, ग्, घ्, ङ्** ये सभी प्राप्त हुए। **स्थानेऽन्तरतमः** के नियम से स्थान की तुल्यता मिलाने पर **नासिका स्थानिक अनुस्वार** के स्थान पर **नासिकास्थान** वाला ही **ङकार** आदेश हुआ- **त्वङ्+करोषि** बना। वर्णसम्मेलन हुआ **त्वङ्करोषि**। जब विकल्प से होने के कारण **परसवर्ण** नहीं हुआ तो **अनुस्वार** वाला ही रूप रह गया- **त्वं करोषि**।

अभ्यासः

(क) **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** और **वा पदान्तस्य** में क्या अन्तर है?

(ख) **अनुस्वार** के स्थान पर **परसवर्ण** करने में अन्य किन सूत्रों की आवश्यकता होती है और क्यों?

(ग) **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** और **वा पदान्तस्य** इन दो सूत्रों में बलवान् सूत्र कौन है?

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
अन्+कितः। अन्+चितः। कुन्+ठितः। गुम्फितः। दान्तः। गन्ता। त्वम्+भवसि। अहम्+पठामि। वयम्+गच्छामः।

८१- **मो राजि समः क्वौ**। मः प्रथमान्तं, राजि सप्तम्यन्तं, समः षष्ठ्यन्तं, क्वौ सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **मोऽनुस्वारः** से षष्ठ्यन्त **मः** की अनुवृत्ति आती है।

क्विप्-प्रत्ययान्त राज् धातु के परे होने पर सम् के मकार के स्थान पर मकार ही होता है।

वैकल्पिकमकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

८२. हे मपरे वा ८।३।२६॥

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति।

वार्तिकम्- **यवलपरे यवला वा।** कियँ ह्यः, किं ह्यः। किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति।

....

राज् धातु से **क्विप्** प्रत्यय होकर उस प्रत्यय के सभी वर्णों का लोप हो जाता है। केवल **राज्** धातु ही बचता है फिर भी वह क्विप् **प्रत्ययान्त** कहलाता है। इसका प्रसंग हलन्तपुँल्लिङ्ग में देखेंगे। क्विबन्त **राज्** धातु के परे होने पर भी **किम्** के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसका यह निरोधक सूत्र है। अतः **सम्** के **मकार** के स्थान पर अनुस्वार न होकर **मकार** ही रह जाता है।

सम्राट्। चक्रवर्ती राजा। **सम्+राट्** में **राज्** धातु से **क्विप्**, उसका लोप्, प्रथमा के एकवचन में सु, उसका भी **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** से लोप हुआ है। **राज्** के **जकार** को जश्त्व और चर्त्व होकर **राट्** बना है। ऐसी स्थिति में **सम्** के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार आदेश प्राप्त था, उसे रोकने के लिए सूत्र लगा- **मो राजि समः क्वौ।** इस सूत्र के नियमानुसार **मकार** के स्थान पर **मकार** ही रहता है तो **सम्+राट्** ऐसा रह गया, वर्णसम्मेलन हुआ- **सम्राट्।**

८२- **हे मपरे वा।** मः परो यस्मात् स मपरः, तस्मिन् मपरे, बहुव्रीहिः। हे सप्तम्यन्तं, मपरे सप्तम्यन्तं, वा अव्ययपदं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मोऽनुस्वारः** से षष्ठ्यन्त **मः** और **मो राजि समः क्वौ** से भी प्रथमान्त **मः** की अनुवृत्ति आती है।

म-परक हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर मकार आदेश विकल्प से होता है।

मकार परे हो ऐसे हकार के परे होने पर यदि **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त होता है तो उसे बाधकर एक पक्ष में यह सूत्र **मकार** ही आदेश करता है और **मकार** न होने के पक्ष में **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार हो जायेगा, जिससे दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति। क्या चलाता या हिलाता है? **किम्+ह्मलयति** में किम् के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था। उसे बाधकर सूत्र लगा- **हे मपरे वा।** मकार परे हो ऐसा **हकार** है ह्+म=**ह्म** का **हकार**, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर एक पक्ष में **मकार** ही रहेगा। अतः **किम् ह्मलयति** ही रह गया। यह कार्य वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **मोऽनुस्वारः** से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हो गया- **किं ह्मलयति।**

यवलपरे यवला वा। यह वार्तिक है। **हे मपरे वा** से पूर्ण कार्य सिद्ध नहीं हो रहे हैं। केवल **मकार** परक **हकार** परे रहने पर **मकार** आदेश करने से काम नहीं चलेगा अपितु **यकार, वकार और लकार परक हकार के परे रहने पर मकार के स्थान पर यँकार, वँकार और लँकार आदेश विकल्प से होते हैं।** हकार के बाद **यकार** हो या **वकार** हो अथवा **लकार** हो तो पूर्व में विद्यमान **मकार** के स्थान पर एक पक्ष में क्रमशः **यकार, वकार** और **लकार** ही आदेश होते हैं और एक पक्ष में **अनुस्वार** भी हो जायेगा।

वैकल्पिकनकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

८३. नपरे नः ८।३।२७॥

नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते, किं ह्नुते।

आद्यन्तावयवविधायकं परिभाषासूत्रम्

८४. आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।

....

मकार का **नासिकास्थान** भी है, अतः अनुनासिक **यँ्, वँ्, लँ्** होंगे। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** से यथासङ्ख्य होकर **यकार** परक **हकार** होगा तो **यँ्** और **वकार** परक **हकार** होगा तो **वँ्** एवं **लकार** परक **हकार** होगा तो **लँ्** आदेश हो जायेंगे।

कियँ् ह्यः, किं ह्यः। कल क्या ? **किम्+ह्यः** में **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **यवलपरे यवला वा।** यहाँ पर **यकार परक हकार** परे है, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर अनुनासिक **यँ्** आदेश हुआ- **कियँ् ह्यः** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, एक पक्ष में नहीं हुआ तो **मोऽनुस्वारः**से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **किं ह्यः।**

किवँ् ह्वलयति, किं ह्वलयति। क्या हिलाता है? **किम्+ह्वलयति** में मकार के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **यवलपरे यवला वा।** यहाँ पर **वकार परक हकार** परे है, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर अनुनासिक **वँ्** आदेश हुआ- **किवँ् ह्वलयति** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, एक पक्ष में नहीं हुआ तो **मोऽनुस्वारः**से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **किं ह्वलयति।**

किलँ् ह्लादयति, किं ह्लादयति। कौन वस्तु प्रसन्न करती है? **किम्+ह्लादयति** में **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से अनुस्वार प्राप्त था, उसे बाधकर वार्तिक लगा- **यवलपरे यवला वा।** यहाँ पर **लकार परक हकार** परे है, अतः **किम्** के **मकार** के स्थान पर अनुनासिक **वँ्** आदेश हुआ- **किलँ् ह्लादयति** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, एक पक्ष में नहीं हुआ तो **मोऽनुस्वारः**से **मकार** के स्थान पर **अनुस्वार** हुआ- **किं ह्लादयति।**

८३- नपरे नः। नः परो यस्मात्, स नपरः, तस्मिन् नपरे, बहुव्रीहिः। नपरे सप्तम्यन्तं, नः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **हे मपरे वा** से हे तथा **मोऽनुस्वारः** से **मः** की अनुवृत्ति आती है।

नकार परक हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर नकार आदेश विकल्प से होता है।

नकार पर हो ऐसे **हकार** के परे होने पर यह लगता है। **नकार** न होने के पक्ष में **मोऽनुस्वारः** से **अनुस्वार** ही होता है।

किन् ह्नुते, किं ह्नुते। क्या छिपाता है? **किम्+ह्नुते** में **किम्** के **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से **अनुस्वार** प्राप्त था, **नकार परक हकार** परे होने के कारण उसे बाधकर **नपरे नः** से **नकार** आदेश हुआ, **किन् ह्नुते** बना। यह आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **मकार** के स्थान पर **मोऽनुस्वारः** से **अनुस्वार** हो गया- **किं ह्नुते।**

कुक्-टुक्-आगमविधायकं विधिसूत्रम्

८५. ङ्णोः कुक्टुक् शरि ८।३।२८॥

वा स्तः।

वार्तिकम्- **चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्।**

प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः।

सुगण्ठ् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः।

....

८४- **आद्यन्तौ टकितौ।** आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, टश्च कश्च टकौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः, टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ, बहुव्रीहिः। आद्यन्तौ प्रथमान्तं, टकितौ प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्।

टित् और कित् जिसको कहे गये हैं वे क्रमशः उनके आदि और अन्त के अवयव होते हैं।

आगम जिसको होता है, उसके **आदि** में या **अन्त** में जाकर के बैठें यह निर्णय करता है यह सूत्र। जिस **आगम** या **आदेश** में **टकार** की इत्संज्ञा होती है (टस्य इत्=टित्) वह **टित** कहलाता है और जिस में **ककार** की इत्संज्ञा होती है उसे (कस्य इत्=कित्) **कित्** कहते हैं। यदि आगम **टित्** होगा तो जिसको आगम हुआ है उसीके **आदि** में अर्थात् पहले और यदि आगम **कित्** होगा तो जिसको आगम हुआ है उसके **अन्त** में अर्थात् बाद में होगा। **टित्** है तो **आदि** में और **कित्** है तो **अन्त** में होना निश्चित है। जैसे **छे च** सूत्र से ह्रस्व को **तुक्** का आगम हुआ है। **तुक्** में अन्त्य **ककार की हलन्त्यम्** सूत्र से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप हो गया और **तु** में **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा तथा **तस्य लोपः** से लोप हो गया, बचा- **त्**। अब यह **तकार** कहाँ बैठे? क्योंकि **छे च** इस सूत्र से जो **तुक्** का आगम हुआ था वह **छकार** के परे रहने पर **ह्रस्व** को हुआ था सो ह्रस्व के आगे या पीछे बैठना चाहिए तो इस सूत्र से निर्णय कर दिया गया कि यदि **टित्** है तो उसके **आदि** में बैठे और **कित्** हो तो **अन्त** में बैठे। **तुक्** में **ककार** की इत्संज्ञा हुई है। अतः यह **कित्** है। **कित्** होने के कारण यह **त्** ह्रस्व वर्ण के **अन्त** में ही बैठेगा। इसी तरह **ङ्णोः कुक् टुक् शरि** से ङकार और **णकार** को **कुक्** और **टुक्** आगम होने पर **कित्** होने के कारण **क्** और **ट्** ये ङ् और **ण्** के अन्त में बैठेंगे किन्तु **डः सि धुट्** से **धुट्** का आगम होने पर **टकार** की इत्संज्ञा होती है, अतः **टित्** होने के कारण **सकार** के **आदि** में बैठेगा।

किसी भी प्रत्यय, आगम और आदेश में जिस वर्ण की भी इत्संज्ञा की जाने वाली है, वह **अनुबन्ध** कहलाता है- **इत्संज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्**। आगम आदि में लगे हुए वर्णों का **हलन्त्यम्** आदि सूत्रों से जो इत्संज्ञा करके **तस्य लोपः** से लोप किया जाता है उसे **अनुबन्धलोप** कहते हैं। इसलिये आगे जहाँ भी **अनुबन्धलोप** की बात आ जाये तो यही समझना चाहिए कि प्रत्यय, आगम आदि को टित्-कित् आदि बनाने के लिये जो अतिरिक्त वर्ण हैं, वे **अनुबन्ध** हैं और उनका लोप होना ही **अनुबन्धलोप** है।

आगम और **आदेश** का अन्तर- **शत्रुवदादेशा भवन्ति। मित्रवदागमा भवन्ति। आदेश** शत्रु की तरह होते हैं, जो किसी वर्ण को हटाकर के बैठते हैं और **आगम** मित्र की तरह होते हैं, जो किसी वर्ण के पास में आकर बैठते हैं।

८५- **ङ्णोः कुक्टुक् शरि।** ङ् च ण् च ङ्णौ, तयोः=ङ्णोः। कुक् च टुक् च तयोः

समाहारद्वन्द्वः। ङ्णोः षष्ठ्यन्तं, कुक्टुक् प्रथमान्तं, शरि सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **हे मपरे वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है।

शर् के परे होने पर ङकार और णकार को क्रमशः कुक् और टुक् आगम होता है।

कुक् और **टुक्** में **ककार** की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा तथा दोनों का **तस्य लोपः** से लोप होकर क्रमशः **क्** और **ट्** मात्र शेष बचते हैं। **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण ये दोनों **कित्** हैं। ये **आगम** हैं, अतः किसी को हटाकर के नहीं अपितु उसके बगल में जा बैठते हैं। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियम से यदि **ङकार** है तो उसको **कुक्** का आगम और **णकार** है तो टुक् आगम होगा। ये दोनों कुक् और टुक् कित् हैं, अतः **आद्यन्तौ टकितौ** के नियमानुसार ङकार और णकार के अन्त में बैठेंगे।

चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। यह वार्तिक है। **शर् के परे होने पर चय् प्रत्याहार के वर्ण के स्थान पर उसी वर्ग का दूसरा वर्ण आदेश होता है, पुष्करसादि आचार्यों के मत में।**

वास्तव में यह वार्तिक **अनचि च** सूत्र पर पढ़ा गया है। वह द्वित्व करता है और वार्तिक वर्ग के दूसरे वर्ण रूपी आदेश करता है। पुष्करसादि आचार्यों के मत में च्, ट्, त्, क्, प् के स्थान पर उसी वर्ग का दूसरा अक्षर आदेश होता है और अन्य आचार्यों के मत में प्रथम अक्षर ही रहता है। फलतः दो मत होने के कारण विकल्प हुआ। **चय्** प्रत्याहार में वर्ग के प्रथम अक्षर **क्, च्, ट्, त्, प्** आते हैं और इनके द्वितीय अक्षर हुए **ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्।** इस कार्य के लिए **शर्** अर्थात् **श्, ष्, स्** का परे होना भी आवश्यक है।

प्राङ्ख् षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः। छठे प्राचीन। **प्राङ्+षष्ठः** में **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** से **षष्ठः** के **षकार** के परे होने पर **प्राङ्** के **ङकार** को **कुक्** आगम हुआ। **ककार** की **हलन्त्यम्** से **इत्संज्ञा** होती है और उसका **तस्य लोपः** से लोप होता है तथा **उकार** उच्चारणार्थ है। अतः हट गया, केवल **क्** बचा। **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण यह **कित्** है। यह **ककार** ङकार के पहले बैठे या बाद में? यह अनियम हुआ तो **आद्यन्तौ टकितौ** ने व्यवस्था दी कि **कित्** हो तो **अन्त** में हो। **कुक्** वाला **ककार** कित् है, अतः **ङकार** के **अन्त** में बैठा। **प्राङ्+क्+षष्ठः** बना। **शर्** परे है **षष्ठः** का **षकार**, अतः **चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** से चय् प्रत्याहारान्तर्गत **ककार** को द्वितीय वर्ण **खकार** आदेश हुआ- **प्राङ्ख् षष्ठः** यह रूप सिद्ध हुआ। वार्तिक वैकल्पिक है, द्वितीय वर्ण न होने के पक्ष में प्रथम ही वर्ण रहा- **प्राङ्क्+षष्ठः** है। **क्** और **ष्** का संयोग होने पर **क्ष्** बनता है। **प्राङ्क्** का **ककार** और **षष्ठः** का **षकार** दोनों को मिलाकर **क्ष्** बन गया तो **प्राङ् क्षष्ठः** सिद्ध हुआ। **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** भी वैकल्पिक है, उससे आगम न होने के पक्ष में **प्राङ् षष्ठः** ही रहा। इस प्रकार से तीन रूप सिद्ध हुए।

सुगण्ठ् षष्ठः, सुगण्ट् षष्ठः, सुगण् षष्ठः। छठे गणक(विद्वान्)। **सुगण्+षष्ठः** में **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** से **षष्ठः** के **षकार** के परे होने पर **सुगण्** के **णकार** को **टुक्** आगम हुआ। ककार की **हलन्त्यम्** से इत्संज्ञा और उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा हुई और दोनों का **तस्य लोपः** से लोप हुआ। **ट्** बचा। **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण यह **कित्** है। यह टकार **णकार** के पहले बैठे या बाद में? यह अनियम हुआ तो

वैकल्पिक-धुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

८६. डः सि धुट् ८।३।२९॥

डात्परस्य सस्य धुड् वा। षट्त्सन्तः, षट् सन्तः।

....

आद्यन्तौ टकितौ ने व्यवस्था दी कि **कित्** हो तो **अन्त** में हो। **टुक्** वाला **टकार** कित् है, अतः **णकार** के **अन्त** में जा बैठा। **सुगण्+ट्+षष्ठः** बना। शर् परे है **षष्ठः** का **षकार**, अतः **चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्** से चय् प्रत्याहारान्तर्गत **टकार** का द्वितीय वर्ण **ठकार** आदेश हुआ- **सुगणठ् षष्ठः** यह रूप सिद्ध हुआ। वार्तिक वैकल्पिक है, द्वितीय वर्ण न होने के पक्ष में **प्रथम** ही वर्ण रहा- **सुगण्ट्+षष्ठः** बना। **ङ्णोः कुक्टुक् शरि** भी वैकल्पिक है, उससे आगम न होने के पक्ष में **सुगण् षष्ठः** ही रहा। इस प्रकार से तीन रूप सिद्ध हुए।

८६- **डः सि धुट्**। डः पञ्चम्यन्तं, सि सप्तम्यन्तं, धुट् प्रथमान्तम्। **हे मपरे वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है।

डकार से परे सकार को विकल्प से धुट् आगम होता है।

धुट् में **टकार** की **हलन्त्यम्** से और **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक** से इत् इत्संज्ञा होती है और दोनों का **तस्य लोपः** से **लोप** हो जाता है। कई आचार्य उकार को उच्चारणार्थक मानते हैं। वह भी ठीक ही है। अतः केवल **ध्** शेष रह जाता है। इसको प्रकारान्तर से भी कह सकते हैं- **अनुबन्धलोप हुआ**। पहले भी बताया जा चुका है कि **जो इत्संज्ञायोग्य** है उसे **अनुबन्ध** कहते हैं, उसका लोप होना ही **अनुबन्धलोप** है। **टकार** की इत्संज्ञा होने के कारण यह **टित्** है। **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से यह जिसको भी आगम होगा, उसके आदि में बैठेगा। इस सूत्र में एक समस्या यह है कि **डः** इस पञ्चम्यन्त पद के कारण **तस्मादित्युत्तरस्य** की उपस्थिति होती है जिससे **डकार** से **अव्यवहित** पर **सकार** को धुट् आगम प्राप्त होगा और **सि** इस सप्तम्यन्त के कारण **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** की उपस्थिति होती है जिससे **सकार** से **अव्यवहित** पूर्व **डकार** को **धुट्** आगम की प्राप्ति होती है। यदि **डकार** को धुट् होगा तो **टित्** होने के कारण **डकार** से पहले बैठेगा और यदि **सकार** को होगा तो सकार के पहले। ऐसा अनियम हुआ। इसके समाधान के लिए व्याकरण जगत् में एक परिभाषा है- **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्**। जहाँ **पञ्चमी** और **सप्तमी** दोनों निर्देश प्राप्त हों वहाँ पर **पञ्चमीनिर्देश** को **बलवान** मानना चाहिए अर्थात् **पञ्चमीनिर्देश** के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस नियम के अनुसार प्रकृत सूत्र पर भी **पञ्चमीनिर्देश** को लेकर के कार्य किया जायेगा अर्थात् **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** को बाधकर **तस्मादित्युत्तरस्य** से कार्य किया जायेगा। अतः **डकार** से अव्यवहित पर **सकार** को ही **धुट्** आगम होगा। **टित्** होने के कारण **सकार** के पहले **धकार** बैठेगा।

षट्त्सन्तः, षट् सन्तः। छ सज्जन। **षट्+सन्तः** में **टकार** के स्थान पर **झलां जशोऽन्ते** से **जशत्व** होकर **षड्+सन्त** हुआ। अब सूत्र लगा- **डः सि धुट्**। इससे **डकार** से परे **सकार** को धुट् का आगम हुआ, अनुबन्धलोप होने पर **ध्** बचा। **टित्** होने के कारण **सकार** के आगे बैठा- **षड्+ध्+सन्तः** बना। **सन्तः** के **सकार** को **खर्** मानकर के **खरि च** से **धकार** के स्थान पर **चर्त्व** हुआ। **धकार** को चर्त्व होने पर **स्थान** एवं **प्रयत्न** से साम्य होने के कारण **तकार** ही हो सकता है, अतः **धकार** के स्थान पर **तकार** आदेश हुआ।

वैकल्पिक-धुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

८७. नश्च ८।३।३०॥

नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा। सन्त्सः, सन्सः।

वैकल्पिक-तुगागमविधायकं विधिसूत्रम्

८८. शि तुक् ८।३।३१॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा।

सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः।

....

षड्त्+सन्तः बना। **षड्+त्** में भी **तकार** को **खर्** परे मानकर पुनः उसी सूत्र से **डकार** के स्थान पर **चर्त्व** हुआ। **स्थान** और **प्रयत्न** से साम्य होने पर **डकार** को **टकार** ही हो सकता है। अतः **डकार** के स्थान पर **टकार** आदेश हुआ, **षट्त् सन्तः** बन गया। वर्णसम्मेलन होने पर **षट्त्सन्तः** सिद्ध हुआ। यह **धुट्** आगम वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **षट् सन्तः** ऐसा भी रहेगा।

८७- नश्च। न पञ्चम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **डः सि धुट्** से **सि** और **धुट्** तथा **हे मपरे वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

पदान्त नकार से परे सकार को विकल्प से धुट् आगम होता है।

डः सि धुट् डकार से परे **सकार** को **धुट्** आगम करता है और यह सूत्र **नकार** से परे **सकार** को। इतना ही अन्तर है, शेष सभी विषय **डः सि धुट्** की तरह ही हैं।

सन्त्सः, सन्सः। वह सज्जन है। **सन्+सः** में नकार के झल् में न आने के कारण **झलां जशोऽन्ते** की प्रवृत्ति नहीं होती है। **सन्** के **नकार** से परे **सः** के **सकार** को **नश्च** से **धुट्** आगम हुआ और अनुबन्धलोप होने पर **ध्** मात्र बचा। **टित्** होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से **सकार** के **आदि** में जा बैठा। **सन्+ध्+सः** बना। **धकार** को **खरि च** से **चर्त्व** होकर **तकार** बन गया, **सन्त् सः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **सन्त्सः** सिद्ध हुआ। यह **धुट्** वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **सन्सः** ही रह गया।

८८- शि तुक्। शि सप्तम्यन्तं, तुक् प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **नश्च** से **नः** और **हे मपरे वा** से **वा** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

शकार के परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प से तुक् आगम होता है।

डः सि धुट् डकार से परे **सकार** को **धुट्** आगम करता है और यह सूत्र **नकार** से परे **शकार** को **तुक्** का आगम। इतना ही अन्तर है, शेष सभी विषय **डः सि धुट्** की तरह ही हैं। **तुक्** में **ककार** की **हलन्त्यम्** से **इत्संज्ञा** और उकार उच्चारणार्थक है। केवल **त्** मात्र शेष रहता है। **तुक्** में **ककार** की इत्संज्ञा हुई है, अतः **कित्** है। कित् होने के कारण **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से जिसको हुआ है उसके अन्त में बैठेगा। यहाँ पर **शकार** के परे रहते **नकार** को तुक् हो रहा है, फलतः **नकार** के **अन्त** में ही बैठना चाहिए।

सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः। शम्भु सत्स्वरूप हैं। **सन्+शम्भुः** में **शि तुक्** से **सन्** के **नकार** को वैकल्पिक **तुक्** आगम हुआ। अनुबन्धलोप होने के बाद **त्** बचा। **कित्** होने कारण **नकार** के **अन्त** में जा बैठा- **सन् त् शम्भुः** बना। **स्तोः श्चुना श्चुः** से **शकार** के योग में पहले **तकार** को **चुत्व** होकर **च्** हुआ और बाद में **चकार** के योग होने पर **नकार** को भी **चुत्व** होकर **ञ्** हुआ, **सञ्च् शम्भुः** बना। **शश्छोऽटि** से **शम्भुः**

ङमुडागमविधायकं विधिसूत्रम्

८९. ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२॥

ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो ङमुट्।

प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

....

के **शकार** के स्थान पर वैकल्पिक **छकार** आदेश हुआ, सञ्च् छम्भुः बना। ञकार को हल्, **चकार** को झर् और **छम्भुः** के छकार को **सवर्ण** झर् परे मानकर **झरो झरि सवर्णे** से **चकार** का वैकल्पिक लोप हुआ तो **सञ्छम्भुः** यह प्रथम रूप सिद्ध हुआ। **झरो झरि सवर्णे** से **चकार** के लोप न होने के पक्ष में चकार सहित **सञ्च्छम्भुः** यह दूसरा रूप बना। **छत्व** भी **विकल्प** से हुआ है, न होने के पक्ष में **शकार** ही रह गया- **सञ्च्शम्भुः** यह तीसरा रूप बना। **तुक्** आगम भी वैकल्पिक है, **तुक्** न होने पर **सञ्शम्भुः** ऐसा चौथा रूप बना। इस तरह से चार रूप सिद्ध हुए। इस विषय में **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** में निम्नलिखित पद्य लिखा गया है-

ञछौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात्॥

अर्थात् **तुक् आगम, छत्व** और **चकार** का लोप विकल्प से होने के कारण **सन्+शम्भुः** में ञकार और **छकार** वाला एक रूप, ञकार, **चकार** और **छकार** वाला एक रूप, ञकार, **चकार** और **शकार** वाला एक रूप तथा ञकार और **शकार** वाला एक रूप, इस तरह चार रूप सिद्ध होते हैं।

८९- ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्। ङमः पञ्चम्यन्तं, ह्रस्वात् पञ्चम्यन्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, ङमुट् प्रथमान्तं, नित्यं क्रियाविशेषणं द्वितीयान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

ह्रस्व से परे जो ङम्, **वह अन्त में है जिस के ऐसा जो पद, उससे परे अच् को नित्य से ङमुट् आगम होता है।**

ङम् प्रत्याहार है, जिसमें **ङ्, ण्, न्,** ये तीन वर्ण आते हैं। ङम् को **उट्** जोड़कर पढ़ा गया है। ङमुट् ऐसा आगम नहीं है अपितु **ङम्** प्रत्याहार में जो वर्ण आते हैं, उन वर्णों में से उट् जोड़कर आगम माना गया है। इस तरह **ङुट्, णुट्, नुट्** आगम होंगे। **टकार** और **उकार** की इत्संज्ञा और लोप होकर **ङ्, ण्, न्** ही शेष रहते हैं। ङमः पञ्चमी और **अचि** सप्तमी इन दोनों पदों को देखकर **तस्मादित्युत्तरस्य** और **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य** इन दोनों परिभाषाओं की उपस्थिति थी। **उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** के नियम पर पञ्चमी निर्देश के कारण ङम् से अव्यवहित परे **अच्** को ये आगम होंगे। **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** के नियमानुसार ङम् में ङ् से परे हो तो ङुट् आगम, **ण्** से परे हो तो **णुट्** आगम और **न्** से परे हो तो **नुट्** आगम होंगे।

हे मपरे वा से विकल्पार्थक **वा** की अनुवृत्ति के निराकरण के लिए इस सूत्र में **नित्यम्** पढ़ा गया है।

प्रत्यङ्ङात्मा। जीवात्मा। **प्रत्यङ्+आत्मा** में **ङकार** से **अच्** परे है। अतः **ङुट्** आगम अनुबन्धलोप होकर **ङ्** बचा। **प्रत्यङ्+ङ् आत्मा** बना। वर्णसम्मेलन होकर **प्रत्यङ्ङात्मा** सिद्ध हुआ।

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९०. समः सुटि ८।३।५॥

समो रुः सुटि।

अनुनासिकादेशविधायकं विधिसूत्रम्

९१. अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२॥

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा।

अनुस्वारागमविधायकं विधिसूत्रम्

९२. अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४॥

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः।

....

सुगण्णीशः। गणकों का स्वामी। **सुगण्+ईश** में **णकार** से **अच्** परे है। अतः **णुट्** आगम, अनुबन्धलोप होकर **ण्** बचा। **सुगण्+ण् ईशः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **सुगण्णीशः** सिद्ध हुआ।

सन्नच्युतः। भगवान् अच्युत सत्स्वरूप हैं। **सन्+अच्युतः** में **नकार** से **अच्** परे है। अतः **नुट्** आगम, अनुबन्धलोप होकर **न्** बचा। **सन्+न् अच्युतः** बना। वर्णसम्मेलन होकर **सन्नच्युतः** सिद्ध हुआ।

अभ्यासः

१. **निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-**

पठन्+अगच्छत्। जानन्नपि। हसन् आगच्छति। तस्मिन्निति। भगवन्नद्य। सुगण्णास्ते।

२. **आद्यन्तौ टकितौ** के विषय में आप जितना जानते हैं, लिखें।

३. **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्** की व्याख्या करें।

९०- समः सुटि। समः षष्ठ्यन्तं, सुटि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की अनुवृत्ति आती है।

सुट् के परे होने पर सम् के मकार के स्थान पर रु आदेश होता है।

यह आदेश है अतः **सम्** के **मकार** को हटाकर बैठता है, यदि आगे **सुट्** आगमका सकार परे हो तो।

९१- अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा। अत्र अव्ययपदम्, अनुनासिकः प्रथमान्तं, पूर्वस्य षष्ठ्यन्तं, तु अव्ययपदं, वा अव्ययपदम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

इस रु के प्रकरण में रु से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है।

इस सूत्र में **अत्र** यह शब्द **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** आदि सूत्रों से किये गये **रु** को बताता है। अतः **ससजुषो रुः** से किये गये **रु** को नहीं लिया जाता है। पूर्वोक्त सूत्रों से **रु** करने पर उस **रु** से पहले जो भी **अच्** वर्ण हो, उसे यह अनुनासिक **अच्** आदेश करता है।

९२- अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः। अनुनासिकात् पञ्चम्यन्तं, परः प्रथमान्तम्, अनुस्वारः प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रु** को पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम

विसर्गविधायकं विधिसूत्रम्

९३. खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५॥

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

वार्तिकम्- **संपुंकानां सो वक्तव्यः।** सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता।

....

करके रोः की तथा अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से पूर्वस्य को पञ्चमी विभक्ति में विपरिणाम करके पूर्वात् की अनुवृत्ति आती है।

जहाँ अनुनासिक होता है, उस पक्ष को छोड़कर अन्य पक्ष में रु से पूर्व जो वर्ण, उससे परे अनुस्वार आगम होता है।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा से किये गये **अनुनासिक** के पक्ष में यह सूत्र नहीं लगता किन्तु उससे अनुनासिक न होने के पंक्ष में यह **अनुस्वार आगम** करता है।

९३- **खरवसानयोर्विसर्जनीयः**। खर् च अवसानं च (तयोरितरेतरयोगद्वन्द्वः) खरवसाने, तयोः खरवसानयोः। खरवसानयोः सप्तम्यन्तं, विसर्जनीयः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **रो रि** से रोः की अनुवृत्ति आती है।

खर् परे रहते अथवा अवसान में स्थित रेफ हो तो उस रेफ के स्थान में विसर्ग आदेश होता है।

संज्ञाप्रकरण में बताया जा चुका है कि **विसर्जनीय, जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय** ये तीन प्रकार के विसर्ग होते हैं। उनमें से **विसर्जनीय** अर्थात् **सामान्य विसर्ग** का विधान यह सूत्र करता है। **पदान्त रेफ** के स्थान पर विसर्ग का विधान करता है। यदि उस रेफ से पर में **खर्** प्रत्याहार के वर्ण हों या वह स्वयं **अवसान** में विद्यमान रेफ हो तो। **र्** को ही **रेफ** कहा जाता है। यह कभी विसर्ग बन जाता है, कभी पर में विद्यमान अच् वर्ण से मिल जाने पर र् ही रह जाता है और कभी पर में विद्यमान हल्वर्ण के ऊपर जा कर बैठता है।

रु में उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा होने के बाद **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल **र्** बचता है।

संपुंकानां सो वक्तव्यः। यह वार्तिक है। **सम्, पुम् और कान् से सम्बन्धित विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है।**

सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता। संस्कार करने वाला। **सम्** यह उपसर्ग है और **कृ** धातु से तृच् प्रत्यय होकर **कर्ता** बना है। **सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे** से **सुट्** का आगम होकर **सम्+स्कर्ता** बना है। ऐसी स्थिति में **समः सुटि** से **स्कर्ता** के **सकार** को **सुट्** परे मान कर के **सम्** के **मकार** के स्थान पर ही **रु** आदेश हो गया। **रु** के **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्संज्ञा** हुई और **तस्य लोपः** से लोप हो गया। **सर्+स्कर्ता** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से रु के **रेफ** से पहले विद्यमान सकारोत्तवरवर्ती **अकार** के स्थान पर अनुनासिक **अँ** आदेश हो गया। **सँर्+स्कर्ता** बन गया। यह अनुनासिक आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से **रेफ** के पहले **अनुस्वार** आगम हुआ तो **संर्+स्कर्ता** बना। इस तरह **सँर्+स्कर्ता** और **संर्+स्कर्ता** दो रूप बने। **स्कर्ता** का **सकार** खर् में आता है और **सम्** एक पद था अतः उसके स्थान पर आया हुआ **रेफ भी पद** के अन्तर्गत ही हुआ। साथ ही वह **अन्त** में भी है, अतः **पदान्त रेफ** हुआ। उसके स्थान पर

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९४. पुमः खय्यम्परे ८।३।६॥

अम्परे खयि पुमो रुः। पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः।

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९५. नश्छव्यप्रशान् ८।३।७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः, न तु प्रशान्-शब्दस्य।

....

खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग आदेश हुआ- **सँःस्कर्ता, संःस्कर्ता** बना। अब विसर्ग के स्थान पर **विसर्जनीयस्य सः** से नित्य से सकार आदेश और **वा शरि** से विकल्प से विसर्ग आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **संपुंकानां सो वक्तव्यः** इस वार्तिक से दोनों जगह **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हुआ- **सँस्स्कर्ता** और **संस्स्कर्ता** ये दो रूप सिद्ध हुए। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** से **सँस्स्कर्ता** के एक **सकार, द्विसकार, त्रिसकार, एक ककार, द्विककार, अनुनासिक** और **अननुनासिक** आदि करके १०८ रूपों की सिद्धि दिखाई गई है।

९४- **पुमः खय्यम्परे**। अम् परो यस्मात् सः अम्परः, तस्मिन् अम्परे। (बहुव्रीहिः)। पुमः षष्ठ्यन्तं, खयि सप्तम्यन्तम्, अम्परे सप्तम्यन्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की अनुवृत्ति आती है।

अम् परक खय् के परे होने पर पुम्-शब्द के मकार को रु आदेश होता है।

अम् प्रत्याहार है और **खय्** भी प्रत्याहार ही है। **अम्** प्रत्याहार में सभी **अच्** और **ह्, य्, व्, र्, ल्, ञ्, म्, ङ्, ण्, न्** आते हैं। खय् में वर्ग के **द्वितीय** और **प्रथम** अक्षर आते हैं। **खय्** से **अम्** परे हों अर्थात् **अम्** परे हो ऐसे **खय्** के परे होने पर **पुम्** के **मकार** के स्थान पर **रु** आदेश का विधान इस सूत्र से होता है।

पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः। नर कोयल। **पुम्+कोकिलः** ऐसी स्थिति में **पुमः खय्यम्परे** से **कोकिलः** के ककारोत्तरवर्ती **ओकार** को **अम्** और **ककार** को **खय्** मान कर **पुम्** के **मकार** के स्थान पर **रु** आदेश हो गया। **रु** के **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्संज्ञा** हुई और **तस्य लोपः** से **लोप** हो गया। **पुर्+कोकिलः** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से **रु** के रेफ से पहले विद्यमान मकारोत्तवरवर्ती **उकार** के स्थान पर अनुनासिक उँ आदेश हो गया। **पुँर्+कोकिलः** बन गया। यह अनुनासिक आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से **रेफ** के पहले **अनुस्वार** आगम हुआ तो **पुंर्+कोकिलः** बना। इस तरह **पुँर्+कोकिलः** और **पुंर्+कोकिलः** दो रूप बने। **कोकिलः** का **ककार खर्** में आता है और **पुम्** एक पद है तथा उससे सम्बन्धित रेफ भी पद के अन्तर्गत ही आया, साथ ही वह **अन्त** में भी है, अतः **पदान्त रेफ** हुआ। उसके स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** आदेश हुआ- **पुँःकोकिलः, पुंःकोकिलः** बना। **संपुंकानां सो वक्तव्यः** इस वार्तिक से दोनों जगह **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हुआ- **पुँस्कोकिलः** और **पुंस्कोकिलः** ये दो रूप सिद्ध हुए।

९५- **नश्छव्यप्रशान्**। नः षष्ठ्यन्तं, छवि सप्तम्यन्तम्, अप्रशान् षष्ठ्यर्थकं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की और **पुमः खय्यम्परे** से **अम्परे** की अनुवृत्ति आती है। **पदस्य** का अधिकार है।

सकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

९६. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४॥

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व।

अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदस्येति किम्? हन्ति।

....

अम् परक छव् के परे होने पर नकारान्त पद को रु आदेश होता है किन्तु प्रशान्-शब्द के नकार को नहीं।

छव् एक प्रत्याहार है जिसमें **छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्** ये वर्ण आते हैं। पूरे **नकारान्त** शब्द को **रु** प्राप्त होने की स्थिति में **अलोऽन्त्यस्य** की उपस्थिति से **अन्त्य नकार** के स्थान पर ही **रु** हो जाता है।

९६- विसर्जनीयस्य सः। विसर्जनीयस्य षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से एकदेश **खरि** की अनुवृत्ति आती है।

खर् के परे होने पर विसर्जनीय विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है।

चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। हे चक्रिन् विष्णो! रक्षा करें। **चक्रिन्+त्रायस्व** ऐसी स्थिति में **नश्छव्यप्रशान्** से **त्रायस्व** के **त्र्** में तकारोत्तरवर्ती **रकार** को **अम् परक** और **तकार** को **छव्** मान कर **चक्रिन्** के **नकार** के स्थान पर **रु** आदेश हो गया। **रु** के **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्संज्ञा** हुई और **तस्य लोपः** से **लोप** होकर **चक्रिर्+त्रायस्व** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** से **रु** के रेफ से पहले विद्यमान रकारोत्तवरवर्ती **इकार** के स्थान पर अनुनासिक **इँ** आदेश हो गया। **चक्रिँर्+त्रायस्व** बन गया। यह अनुनासिक आदेश वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से **रेफ** के पहले **अनुस्वार** आगम हुआ तो **चक्रिंर्+त्रायस्व** बना। इस तरह **चक्रिँर्+त्रायस्व** और **चक्रिंर्+त्रायस्व** दो रूप बने। **त्रायस्व** का **तकार खर्** में आता है और **चक्रिन्** एक पद है तथा उससे सम्बन्धित **रेफ** भी **पद** के अन्तर्गत ही आया, साथ ही वह **अन्त** में भी है। अतः **पदान्त रेफ** हुआ। उसके स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** आदेश हुआ- **चक्रिँःत्रायस्व, चक्रिंःत्रायस्व** बना। **विसर्जनीयस्य सः** से दोनों जगह विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हुआ- **चक्रिँस्त्रायस्व** और **चक्रिंस्त्रायस्व** ये दो रूप सिद्ध हुए।

अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। अब प्रश्न करते हैं कि **नश्छव्यप्रशान्** सूत्र में **अप्रशान्** क्यों कहा? उत्तर देते हैं कि **प्रशान् तनोति** में दोष न आवे, इसलिए। क्योंकि **अप्रशान्** कहकर **प्रशान्** शब्द को निषेध नहीं करेंगे तो **प्रशान्+तनोति** में भी **नकार** को **रुत्व** होकर **प्रशाँस्तनोति** ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। इस अनिष्ट रूप के निवारणार्थ सूत्र में **प्रशान् शब्द** को **रुत्व** निषेध किया गया।

पदस्येति किम्? हन्ति। अब प्रश्न करते हैं कि **नश्छव्यप्रशान्** सूत्र में **पदस्य** की अनुवृत्ति क्यों की? उत्तर देते हैं कि **हन्ति** में दोष न आवे, इसलिए। क्योंकि **पदस्य** कहने से पदान्त **नकार** को ही **रुत्व** करता है, **अपदान्त** को नहीं। यदि **पदस्य** की अनुवृत्ति नहीं करेंगे तो यह सूत्र **पदान्त** या **अपदान्त** दोनों **नकारों** को **रुत्व** करने लगेगा, जिससे **हन्+ति** यहाँ पर **अपदान्त नकार** को भी **रुत्व** होकर **हँस्ति** ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। इस अनिष्ट रूप के निवारणार्थ सूत्र में **पदस्य** की अनुवृत्ति की गई।

वैकल्पिक-रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

९७. नृन् पे ८।३।१०॥

नृनित्यस्य रुर्वा पे।

जिह्वामूलीयोपध्मानीयविधायकं विधिसूत्रम्

९८. कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च ८।३।३७॥

कवर्गे पवर्गे च विसर्गस्य ≍ क ≍ पौ स्तः, चाद्विसर्गः।

नॄँ ≍ पाहि, नॄँः पाहि, नॄं ≍ पाहि, नॄंः पाहि, नॄन् पाहि।

....

९७- नृन् पे। नृन् लुप्तषष्ठीकं द्वितीयान्तानुकरणं, पे सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की अनुवृत्ति आती है।

पकार के परे होने पर नृन् के नकार के स्थान पर रु आदेश विकल्प से होता है।

९८- **कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च।** कुश्च पुश्च कुपू, तयोः कुप्वोः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः)। कश्च पश्च कपौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः।

कवर्ग और पवर्ग के परे होने पर विसर्जनीय-विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय और उपध्मानीय विसर्ग आदेश होते हैं तथा पक्ष में विसर्ग भी होता है।

इस सूत्र में **क पौ** इन दो वर्णों से पहले **जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय** विसर्ग के चिह्न के रूप में नीचे और ऊपर दो घुमावदार तिरछी लकीर ≍ लगाने का प्रचलन संस्कृतभाषा में है।

कवर्ग के परे होने पर **जिह्वामूलीय** और **पवर्ग** के परे होने परे **उपध्मानीय** विसर्ग होते हैं। ये विसर्ग **क, ख** और **प, फ** के परे ही हो पाते हैं, क्योंकि विसर्जनीय अर्थात् सामान्य विसर्ग के स्थान पर ही ये आदेश होते हैं तो **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** यह सूत्र **खर्** के परे होने पर या **अवसान** में ही **विसर्ग** करता है। **खर्** में वर्ग के **प्रथम** और **द्वितीय** अक्षर ही आते हैं। अतः **क, ख** और **प, फ** के परे होने पर ही ये दो **विसर्ग** हो सकते हैं। सूत्र में **च** पढ़ा गया है, इससे एक पक्ष में **विसर्जनीय भी होता है,** यह अर्थ निकलता है। **अनुनासिक, अनुस्वार** तथा **जिह्वामूलीय** और **उपध्मानीय** के विकल्प से होने के कारण पाँच रूप बन जाते हैं।

नॄँ ≍ पाहि, नॄँः पाहि, नॄं ≍ पाहि, नॄंः पाहि, नॄन् पाहि। मनुष्यों की रक्षा करें। **नृन्+पाहि** में **नकार** के स्थान पर **नृन् पे** से **रु** आदेश, अनुबन्धलोप, **नृर् पाहि** बना। **अनुनासिक** और **अनुस्वार** दोनों हुए तो **नॄँर् पाहि, नॄंर् पाहि** बने। **पकार** को **खर्** परे मानकर रेफ के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** हो गया **नॄँः पाहि, नॄंः पाहि** बना। **कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च** से **प** से पहले होने के कारण **उपध्मानीय** विसर्ग हुआ। **नॄँ ≍ पाहि, नॄं ≍ पाहि** बना। **अनुनासिक** और **अनुस्वार** दोनों पक्ष में उपध्मानीय विसर्ग के दो रूप और विसर्जनीय के दो रूप तथा **नॄन् पे** से **रुत्व** न होने के पक्ष में **नॄन् पाहि** ही रहेगा।

आम्रेडितसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

९९. तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२॥

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१००. कानाम्रेडिते ८।३।१२॥

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्, कांस्कान्।

....

९९- तस्य परमाम्रेडितम्। तस्य षष्ठ्यन्तं, परम् प्रथमान्तम्, आम्रेडितं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्। **सर्वस्य द्वे** से **द्वे** का अधिकार आ रहा है। उसीको यहाँ पर **तस्य** से दर्शाया जा रहा है।

शब्द के दो बार उच्चारण होने पर दूसरे रूप की आम्रेडितसंज्ञा होती है।

वैसे उच्चारण से हो या द्वित्व करके हो, एक ही शब्द का यदि दो बार उच्चारण अथवा लेखन किया जाय तो दूसरा जो शब्द है, उसकी यह **आम्रेडितसंज्ञा** करता है। संज्ञा का फल आगे स्पष्ट हो जायेगा।

१००- कानाम्रेडिते। कान् द्वितीयान्तानुकरणात्मकं लुप्तषष्ठीकं पदम्, आम्रेडिते सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** से **रुः** की अनुवृत्ति आती है।

आम्रेडित के परे होने पर कान्-शब्द के नकार को रु आदेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य से **अन्त्यस्य** आकर **कान्** के **अन्त्य नकार** को **रु** आदेश हो जाता है। **रु** होने के बाद अनुबन्धलोप करके अनुनासिक तथा अनुस्वार ये दोनों कार्य हो जाते हैं।

काँस्कान्, कांस्कान्। किस् किस को। **कान्+कान्** यह किम् शब्द के पुँल्लिङ्ग में द्वितीया बहुवचन का रूप है। **नित्यवीप्सयोः** से **कान्** को द्वित्व हुआ है। द्वितीय **कान्** की **तस्य परमाम्रेडितम्** से **आम्रेडितसंज्ञा** हो गई और आम्रेडित के परे प्रथम **कान्** के **नकार** के स्थान पर **कानाम्रेडिते** से **रु** आदेश हुआ। अनुबन्धलोप होकर **कार्+कान्** बना। **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा** और **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः** से **अनुनासिक** और **अनुस्वार** हुए। **काँर्+कान्, कांर्+कान्** बना। **रेफ** के स्थान पर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से विसर्ग हुआ। **काँःकान्, कांःकान्** बना। **संपुंकानां सो वक्तव्यः** इस वार्तिक से **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हुआ। इस तरह **काँस्कान्, कांस्कान्** ये रूप सिद्ध हुए।

अब इसी तरह **तान्+तान्** से भी **ताँस्तान्, तांस्तान्** रूप बनते हैं किन्तु यहाँ पर आम्रेडितसंज्ञा होने पर भी कोई फल नहीं है क्योंकि आम्रेडितसंज्ञा को निमित्त मानकर केवल **कान्**-शब्द को ही रुत्व हो रहा है, अन्य शब्दों में नहीं। अतः यहाँ पर **नश्छव्यप्रशान्** से रुत्व होकर **अनुनासिक** और **अनुस्वार** करके **ताँस्तान्, तांस्तान्** बन जाते हैं।

अभ्यासः

१. **रुत्वप्रकरण** के अन्तर्गत आने वाले सूत्रों पर एक विवरण लिखें।

२. क्या **रुत्वप्रकरण** के सभी सूत्र एक दूसरे में बाध्य-बाधक हैं? स्पष्ट करें।

३. **काँस्कान्** में **ताँस्तान्** की तरह **नश्छव्यप्रशान्** से काम क्यों नहीं चलता?

४. निम्नलिखित शब्दों की सिद्धि करें-

पुम्+चली। सँस्कार। पुम्+चरित्रम्। भवान्+छिनत्ति। कस्मिँचित्। महान्+तारकः। रामः पालयति। कः खादति?

तुगागमविधायकं विधिसूत्रम्

१०१. छे च ६।१।७३॥

ह्रस्वस्य छे तुक्। शिवच्छाया।

वैकल्पिकतुगागमविधायकं विधिसूत्रम्

१०२. पदान्ताद्वा ६।१।७६॥

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग् वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः॥३॥

....

१०१- **छे च**। छे सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** से **ह्रस्वस्य** और **तुक्** दो पदों की अनुवृत्ति हुई है।

छकार के परे होने परे ह्रस्व को तुक् का आगम होता है।

यह सूत्र **तुक्** आगम करता है। शब्दों एवं अक्षरों से प्रत्यय, आगम और आदेश होते हैं जो आगे बताये जायेंगे। पहले भी बताया जा चुका है कि आदेश किसी वर्ण के स्थान पर उसे हटाकर होते हैं और आगम किसी के स्थान पर नहीं होता और किसी वर्ण को भी नहीं हटाता अपितु जिस वर्ण को आगम का विधान किया जाता है उसके बगल में आकर के बैठ जाता है। **शत्रुवदादेशा भवन्ति, मित्रवदागमा भवन्ति** अर्थात् आदेश शत्रु जैसे होते हैं जो स्थानी हटाकर बैठते हैं और आगम मित्र के समान होते हैं जो उसे किसी प्रकार की हानि किये विना उसके हितकारी होते हुए उसके बगल में बैठ जाते हैं। इस सूत्र से भी आगम किया गया है। वह तुक् आगम ह्रस्व को हुआ है। अतः ह्रस्व के बगल में बैठेगा। यहाँ पर यह स्पष्ट नहीं हुआ कि आगम जिस को हुआ वह उसके पहले बैठे या उसके बाद में बैठे? इसी का निर्णय करता है सूत्र **आद्यन्तौ टकितौ**। तुक् में **ककार** की इत्संज्ञा होने के कारण **कित्** है, अतः **ह्रस्व** के अन्त में बैठेगा।

शिवच्छाया (शिव की छाया)। **शिव+छाया** ऐसी स्थिति में **छे च** सूत्र ने **तुक्** का आगम किया। **छकार** परे है **छाया** का **छकार** और ह्रस्ववर्ण है **शिव** में वकारोत्तरवर्ती **अकार**। ऐसी स्थिति में **अकार** को तुक् का आगम हुआ। अनुबन्धलोप होकर **त्** बचा। **तुक्** में **ककार** की इत्संज्ञा हुई थी सो **कित्** होने की बजह से **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से ह्रस्व के अन्त में बैठा। **शिव+त्+छाया** बना है। चवर्ग **छकार** के योग में तवर्ग **तकार** को **स्तोः श्चुना श्चुः** से **चुत्व** होकर **चकार** बन गया- **शिव+च्+छाया** बना, वर्णसम्मेलन होकर- **शिवच्छाया** यह रूप सिद्ध हुआ।

१०२- **पदान्ताद्वा**। पदान्तात् पञ्चम्यन्तं, वा अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **दीर्घात्** से **दीर्घात्** और **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** से **ह्रस्वस्य** की अनुवृत्ति आती है।

पदान्त दीर्घ से छकार परे होने पर दीर्घ को तुक् आगम विकल्प से होता है।

इस तरह उपर्युक्त दो सूत्रों से **ह्रस्व** से **छकार** के परे होने पर **नित्य से** और **दीर्घ पदान्त** से **छकार** के परे होने पर **विकल्प** से **तुक्** आगम हो जाता है।

लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया। लक्ष्मी की छाया। **लक्ष्मी+छाया** ऐसी स्थिति में **पदान्ताद्वा** सूत्र ने वैकल्पिक **तुक्** का आगम किया। **छकार** परे है **छाया** का **छकार** और पदान्त दीर्घ है **लक्ष्मी** में मकारोत्तरवर्ती **ईकार**। ऐसी स्थिति में **ईकार** को **तुक्** का आगम

हुआ। अनुबन्धलोप हुआ, **त्** बचा। **तुक्** में **ककार** की इत्संज्ञा हुई थी सो **कित्** होने की वजह से **आद्यन्तौ टकितौ** के नियम से **दीर्घ** के अन्त में जा वैठा। **लक्ष्मी+त्+छाया** बना। चवर्ग **छकार** के योग में तवर्ग **तकार** को **स्तोः श्चुना श्चुः** से **चुत्व** होकर **चकार** बन गया- **लक्ष्मी+च्+छाया** बना, वर्णसम्मेलन हुआ- **लक्ष्मीच्छाया** यह रूप सिद्ध हुआ। **तुक्** का आगम वैकल्पिक है, न होने के पक्ष में **लक्ष्मीछाया** ही रह गया।

अभ्यासः

(क) **आद्यन्तौ टकितौ** यह सूत्र न होता तो क्या हानि होती?

(ख) **छे च** सूत्र से किस वर्ण को तुगागम होता है।

(ग) **छे च** और **पदान्ताद्वा** का क्षेत्र स्पष्ट करें।

(ग) शिव+शर्मा में तुक् का आगम क्यों नहीं होता?

(घ) निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
ग+छति। इ+छा। य+छति। ममच्छात्रः। मधुच्छादनम्। सन्तिच्छिद्राणि। तीक्ष्णाच्छुरिका। मधुच्छन्दसः।

परीक्षा

अब आपका **विसर्गसन्धि** में प्रवेश होने वाला है। **हल्सन्धि** पूर्ण हो गई है। **हल्सन्धि** के मुख्य सूत्र एवं लोक में अधिक प्रचलित हल्सन्धि वाले प्रयोगों का प्रदर्शन इस प्रकरण में किया गया है। अब आपके सामने परीक्षा की घड़ी आ गई है। परीक्षा में सफल होने वाला व्यक्ति ही जीवन में सफल माना जाता है। हमारे जीवन में हर पल परीक्षा ही परीक्षा है। परीक्षाओं से घबराने वाला व्यक्ति कायर माना जाता है। वह कोई प्रगति नहीं कर सकता है। अतः हमेशा परीक्षा के लिए तैयार रहना चाहिये। परीक्षा-रूपी अग्नि में तपकर मानव भी कुन्दन जैसा खरा बन जाता है। आपने हल्सन्धि की कितनी तैयारी की है? इसका प्रमाण परीक्षा में मिलेगा।

आप प्रतिदिन एक घण्टा स्वाध्याय में अपने को अवश्य लगाये रखना। स्वाध्याय का तात्पर्य होता है कि पढ़े हुए विषयों को दुहराना, चिन्तन करना, उन विषयों को पुष्ट करने के लिए नया अध्ययन एवं शोध करना। यदि स्वाध्याय नहीं किया तो आगे पढ़ते रहने पर भी पीछे भूलते जायेंगे। इस प्रकार प्रत्येक जिज्ञासु व्यक्ति को प्रतिदिन एक घण्टा अवश्य स्वाध्याय करना चाहिये। अब आप निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखित रूप में दें। इसके पहले **लघुसिद्धान्तकौमुदी** को कपड़े से बाँधकर दो दिन के लिए रख दें और पूजा करें। इस बीच में इन अभ्यासों को दुहरायें। निम्नलिखित प्रश्नों के ५-५ अंक हैं। आपको उत्तीर्ण होने के लिए कम से कम ४० अंक प्राप्त करने होंगे।

प्रश्न

१- **श्चुत्व** और **ष्टुत्व** के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

२- **जश्त्व, अनुनासिकत्व** और **चर्त्व** के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

३- **अनुस्वार** एवं **परसवर्णसन्धि** के किन्हीं पाँच प्रयोगों को संस्कृत में सिद्ध करें।

४- **'छे च'** और **आद्यन्तौ टकितौ** इन दो सूत्रों की कम से कम एक पृष्ठ में व्याख्या करें।

५- **अच्सन्धि** और **हल्सन्धि** के अन्तर को बतायें।

६- इस प्रकरण में कौन-कौन सूत्र किन-किन सूत्रों के बाधक हैं? समझाइये।

७- **परसवर्णविधायक** सूत्र की व्याख्या करें।
८- **आगम** और **आदेश** में क्या अन्तर है? अच्छी तरह समझाइये।
९- **हल्सन्धि** के सारे सूत्र एवं उनकी वृत्ति को विना पुस्तक देखे पूरा ही उतारें।
१०- इस प्रकरण में कौन-कौन से सूत्र किस अध्याय एवं पाद के हैं?

छात्रों को मेरा निर्देश

छात्रों को मेरा निर्देश है कि यदि आपने अभी तक अष्टाध्यायी का पारायण शुरू नहीं किया है तो अब आप **पाणिनीय-अष्टाध्यायी** के सूत्रों का पारायण अवश्य शुरू कर दें। यदि आप रट सकते हैं तो अच्छी बात है, नहीं तो प्रतिदिन दो अध्याय के नियम से सूत्रपाठ का पारायण करें। पहले महीने में प्रथम व द्वितीय अध्याय, दूसरे महीने में तीसरे और चौथे अध्याय, तीसरे महीने में पाँचवें और छठवें अध्याय तथा चौथे महीने में सातवें और आठवें अध्याय का पारायण करने से लगभग चार महीने में सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ हो जाती है क्योंकि बच्चे एक महीने तक प्रतिदिन जिस विषय का पारायण करेंगे, वह विषय उनको याद हो जाता है। यदि एक आवृत्ति में उनको याद नहीं भी हुआ तो दूसरी आवृत्ति में अर्थात् अगले चार महीनों में अवश्य याद हो जायेगा। यदि आठ महीने पाणिनि जी के समस्त सूत्र याद हो जायें तो भी बहुत बड़ी बात है। यदि कथंचित् दो अध्याय का नियम नहीं बन पाता है तो एक अध्याय का नियम अवश्य रखें।

यह बात भी ध्यान रहे कि **लघुसिद्धान्तकौमुदी** व्याकरणशास्त्र में प्रवेशिका मात्र है। आगे जाकर आपको **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** का अध्ययन करना है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में पाणिनीय-अष्टाध्यायी के एक तिहाई सूत्र और वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी में पूरे के पूरे लगभग ४००० सूत्र हैं। उन चार-हजार सूत्रों का ज्ञान एवं उनके उदाहरण जाने विना व्याकरण का ज्ञान पूर्ण नहीं होगा। आप यह न समझना कि जब **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** पढ़ेंगे तव सभी सूत्र याद कर लेंगे, क्योंकि तब याद नहीं हो पायेगा। **सूत्रपाठ** याद करना अलग बात है और **विषयवस्तु को समझना** अलग बात है। उस समय समझने का विषय रहेगा तो सूत्रपाठ भी उस समय के लिए रखना ठीक नहीं है। जो आज का विषय है, उसे आज ही याद कर लें तो अच्छा रहेगा। मेरा अनुभव है कि उस समय केवल समझने की ही प्रधानता रहती है और सूत्र याद करना अप्रधान (गौण) हो जाता है। फलतः सूत्रों के विषय में जीवन भर सन्देह की स्थिति बनी रहती है।

आपको पुनः स्मरण कराता हूँ कि पाणिनि जी के द्वारा रचित अष्टाध्यायी के सारे सूत्रों के विना व्याकरण अधूरा ही है।

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का हल्सन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ।

अथ विसर्गसन्धिः

सकारादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१०३. विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४॥

खरि। विष्णुस्त्राता।

वैकल्पिकविसर्गादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१०४. वा शरि ८।३।३६॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते, हरिश्शेते।

....

श्रीधरमुखोल्लासिनी

आपने अभी तक **संज्ञाप्रकरण, अच्सन्धि, हल्सन्धिप्रकरणों** को जान लिया है। अब आइये **विसर्ग** से सम्बन्धित **सन्धि** का ज्ञान करते हैं। सामान्यतया **विसर्ग** वह है जो अक्षरों के बाद दो बिन्दु के रूप में (:) लगता है। **विसर्ग** की उत्पत्ति **रेफ** से होती है। **विसर्ग** बनने वाला **रेफ** प्रायः **स्** से बनता है। इस प्रकार से **स्** जो है वह **र्** बनता है और **र्** विसर्ग (:) बनता है। अब हमें यह अध्ययन करना है कि कैसी स्थिति में **स्** से **र्** और **र्** से **विसर्ग** बनता है?

१०३- **विसर्ज्नीयस्य सः**। विसर्जनीयस्य षष्ठ्यन्तं, सः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से एकदेश **खरि** की अनुवृत्ति आती है।

खर् के परे होने पर विसर्जनीय विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होता है।

यह सूत्र हल्सन्धि में भी पढ़ा गया और यहाँ भी पढ़ा गया है। यद्यपि यह सूत्र विसर्ग को सकार करता है, अतः यहीं पढ़ना ठीक था, फिर भी प्रसंगवश वहाँ भी पढ़ा गया।

खर् प्रत्याहार में वर्ग के **प्रथम** और **द्वितीय** अक्षर तथा **श्, ष्, स्,** ये वर्ण आते हैं। इनके परे होने पर **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हो जाता है। इनमें भी **क** और **ख** के परे होने पर वैकल्पिक **जिह्वामूलीय** तथा **प** और **फ** के परे होने पर वैकल्पिक **उपध्मानीय** होता है। **च** और **छ** के परे होने पर इसके द्वारा किये गये **सकार** को **स्तोः श्चुना श्चुः** से **शकार** आदेश हो जाता है तथा **ट** और **ठ** के परे होने पर **ष्टुना ष्टुः** से **षकार** होता है। **त** और **थ** के परे होने पर **सकार** ही रहता है।

विष्णुस्त्राता। विष्णु रक्षक हैं। **विष्णुः+त्राता** में **त्राता** के **तकार** को **खर्** परे मानकर **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** आदेश हो गया- **विष्णुस्त्राता** बना।

रुत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०५. स-सजुषो रुः ८।२।६६॥

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

उत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०६. अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३॥

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः।

....

१०४- वा शरि। वा अव्ययपदं, शरि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **शर्परे विसर्जनीयः** से **विसर्जनीयः** की तथा **विसर्जनीयस्य सः** से **विसर्जनीयस्य** की अनुवृत्ति आती है।

शर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग आदेश होता है।

शर् प्रत्याहार **खर्** प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है। **शर्** के परे होने पर **विसर्जनीयस्य सः** से नित्य से **सकार** आदेश प्राप्त था। एक पक्ष में **विसर्ग** और एक पक्ष **सकार** करने के लिए **अपवाद** के रूप में इस वैकल्पिक सूत्र का आरम्भ है। तात्पर्य यह हुआ कि **खर्** में से **श्, ष्, स्** के परे होने पर एक पक्ष में **विसर्ग** और एक पक्ष में **सकार** तथा शेष **खर्** के परे होने पर नित्य से **विसर्ग** के स्थान पर **सकार** ही रहता है।

हरिः शेते, हरिश्शेते। हरि शयन करते हैं। **हरिः+शेते** में **विसर्ग** के स्थान पर **विसर्जनीयस्य सः** से नित्य से **सकार** आदेश प्राप्त था। **शेते** का **शकार** शर् है, उसके परे होने पर उक्त सूत्र को बाधकर के **वा शरि** से एक पक्ष में **विसर्ग** ही आदेश हुआ, **हरिः शेते** ही रहा। यह वैकल्पिक है, अतः न होने के पक्ष में **विसर्जनीयस्य सः** से **सकार** आदेश हुआ- **हरिस्+शेते** बना। **शकार** के योग में **सकार** के स्थान पर **स्तोः श्चुना श्चुः** से **शकार** आदेश होकर वर्णसम्मेलन होने पर **हरिश्शेते** सिद्ध हुआ। इस तरह दो रूप बने।

१०५- ससजुषो रुः। सश्च सजूश्च ससजुषौ, तयोः ससजुषोः, इतरेतरद्वन्द्वः। ससजुषोः षष्ठ्यन्तं, रुः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **पदस्य** का अधिकार है।

पदान्त सकार तथा सजुष् शब्द के षकार के स्थान पर रु आदेश होता है।

अलोऽन्त्यस्य के बल पर पद के अन्त्य में विद्यमान दन्त्य **सकार** के स्थान पर और **सजुष्** शब्द में जो **मूर्धन्य षकार** है उसके स्थान पर **रु** आदेश का विधान करता है। **सजुष्** शब्द में **दन्त्य सकार** न होने से **रुत्व** प्राप्त नहीं हो रहा था, इसलिये इस सूत्र में **सजुष्**शब्द का अलग से कथन करना पड़ा। इस सूत्र के द्वारा किये गये कार्य को **रुत्व** कहा जाता है। **रु** (र्+उ=रु) में **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** से लोप होकर केवल **र्** ही बचता है।

विसर्ग से सम्बन्धित चार सूत्रों का बड़ा महत्त्व है। जैसे- **ससजुषो रुः** से **सकार** के स्थान पर **रुत्व** कर दिए जाने के बाद **विरामोऽवसानम्** से **अवसानसंज्ञा** होकर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** हो जाता है। उसके बाद **विसर्जनीयस्य सः** से **विसर्ग** के स्थान पर **सकारादेश** होता है। **सकारादेश** होने के पहले **विसर्ग** होना जरूरी है और **विसर्ग** होने के पहले **सकार** के स्थान पर **रुत्व** होना जरूरी है।

१०६- अतो रोरप्लुतादप्लुते। न प्लुतः अप्लुतः, तस्मात् अप्लुतात्, तस्मिन् अप्लुते। अतः

उत्वविधायकं विधिसूत्रम्

१०७. हशि च ६।१।११४॥

तथा। शिवो वन्द्यः।

....

पञ्चम्यन्तं, रोः षष्ठ्यन्तम्, अप्लुतात् पञ्चम्यन्तम्, अप्लुते सप्तम्यन्तम् अनेकपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **एङः पदान्तादति** से **अति** की अनुवृत्ति आती है।

प्लुत-भिन्न ह्रस्व अकार से परे रु सम्बन्धी रेफ को उकार आदेश होता है प्लुत-भिन्न ह्रस्व अकार के परे रहते।

सूत्र का कार्य **रु** में से शेष बचे **रेफ** के स्थान पर **उ** आदेश करना है किन्तु उस **रेफ** से पूर्व भी **अप्लुत ह्रस्व अकार** हो और परे भी **अप्लुत ह्रस्व अकार** हो तो। दोनों तरफ **अप्लुत ह्रस्व अकार** और बीच् में **रु** का **रेफ** हो तो उस के स्थान पर **उकारादेश** हो जायेगा।

यहाँ पर सपादसप्ताध्यायी **अतो रोरप्लुतादप्लुते** की दृष्टि में त्रिपादी **ससजुषो रुः** यह **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से असिद्ध नहीं होता क्योंकि यदि रुत्व असिद्ध हो तो उत्व का विधान ही व्यर्थ हो जायेगा। कारण यह है कि जब भी उत्व होगा तो **रु** के स्थान पर ही होगा। यदि **रु** ही असिद्ध हो जाय तो यह किसको उत्व करेगा?

शिवोऽर्च्यः। शिव पूज्य हैं। **शिवस्+अर्च्यः** इस स्थिति में अन्त्य दन्त्य **सकार** के स्थान पर **ससजुषो रुः** से **रु** आदेश होने पर **शिवरु अर्च्यः** बना। **रु** के **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्संज्ञा** और **तस्य लोपः** से **लोप** हुआ- **शिव र् अर्च्यः** बना। अब **अतो रोरप्लुतादप्लुते** इस सूत्र से उस **रेफ** के स्थान **उकार** आदेश हुआ क्योंकि **ह्रस्व अकार** है **शिव** में वकारोत्तरवर्ती **अकार** और उससे परे **रेफ** है **रु** से बचा **र्** तथा रेफ से भी **ह्रस्व अकार** परे है **अर्च्यः** वाला **अकार**। इस तरह इस सूत्र से **उत्व** होने पर- **शिव+उ+अर्च्यः** बना। **शिव+उ** में **आद्गुणः** से गुण होकर **शिवो+अर्च्यः** बना। **शिवो+अर्च्यः** में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश प्राप्त था, उसे बाधकर **एङः पदान्तादति** से **पूर्वरूप** हुआ तो **ओकार** और **अकार** मिलकर पूर्वरूप **ओ** ही बन गये। **शिवो+र्च्यः** बना। **अकार** के स्थान पर संकेताक्षर ऽ (खण्डकार) यह चिह्न आकर के बैठ जाने पर **शिवोऽर्च्यः** रूप बन गया।

१०७- हशि च। हशि सप्तम्यन्तं, च अव्ययपदं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अतो रोरप्लुतादप्लुते** से **अतो रोरप्लुतात्** की अनुवृत्ति आती है।

अप्लुत ह्रस्व अकार से परे रु वाले र् के स्थान पर उकारादेश होता है हश् प्रत्याहार परे हो तो।

इस सूत्र का काम भी **उत्व** करना ही है किन्तु **अतो रोरप्लुतादप्लुते** सूत्र **ह्रस्व अकार के परे** रहने पर लगता है और **हशि च** यह सूत्र **हश् प्रत्याहार के परे** रहने पर लगता है। इन दोनों सूत्रों में इतना ही अन्तर है, बाँकी सब में समानता है। अतः ये दोनों सूत्र समानान्तर सूत्र हैं।

शिवो वन्द्यः। शिव वन्दनीय हैं। **शिवस्+वन्द्यः** में **सकार** के स्थान पर **रुत्व** हो जाने पर **शिवर्+वन्द्यः** बना। **वन्द्यः** में जो **वकार** है, वह हल्वर्ण है। अतः ह्रस्व अकार परे

यादेशविधायकं विधिसूत्रम्

१०८. भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह, देवायिह।

भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते-

....

न होने के कारण **अतो रोरप्लुतादप्लुते** से उत्व नहीं हो सका तो **हशि च** की जरूरत पड़ी। इस सूत्र ने **वकार** रूपी **हश्** के परे रहने पर **रेफ** के स्थान पर **उकार** आदेश कर दिए जाने के कारण **शिव+उ+वन्द्यः** बना। **शिव+उ** में **आद्गुणः** से **गुण** होने पर रूप सिद्ध हुआ- **शिवो वन्द्यः**।

१०८- भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि। भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च तेषामितरेतरद्वन्द्वः, भोभगोअघोआः। भोभगोअघोआः पूर्वे यस्मात् स भोभगोअघोअपूर्वः, तस्य भोभगोअघोअपूर्वस्य। **रोः सुपि** से **रोः** की अनुवृत्ति आती है।

अश् के परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रु के स्थान पर यकार आदेश होता है।

भोस्, **भगोस्** और **अघोस्** ये सकारान्त निपात हैं। चादिगण में पाठ होने के कारण इनकी **चादयोऽसत्त्वे** से **निपातसंज्ञा** और **स्वरादिनिपातमव्ययम्** से **अव्ययसंज्ञा** भी हो जाती है। इनमें **भोस्** का प्रयोग सामान्य सम्बोधन में, **भगोस्** का प्रयोग भगवान् के सम्बोधन में और **अघोस्** का प्रयोग पापी के सम्बोधन में देखा गया है। इनके अन्त्य में विद्यमान **सकार** के स्थान पर **ससजुषो रुः** से **रु** आदेश होने पर यह सूत्र लगता है। **अश्** परे होने **रु** के रेफ के स्थान पर ही यकार आदेश होता है।

देवा इह, **देवायिह**। हे देवों! यहाँ(आइये)। **देवास्+इह** में **ससजुषो रुः** से **सकार** के स्थान पर **रु** आदेश, अनुबन्धलोप करके **देवार्+इह** बना। **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से अवर्णपूर्वक **रेफ** के स्थान पर **यकार** आदेश हुआ- **देवाय्+इह** बना। **इह** के **इकार** को **अश्** परे मानकर **लोपः शाकल्यस्य** से **यकार** का वैकल्पिक लोप हुआ- **देवा इह** बना। **लोपः शाकल्यस्य** यह सूत्र त्रिपादी है, अतः **पूर्वत्रासिद्धम्** से किया गया **आकार** का लोप **आद्गुणः** की दृष्टि में **असिद्ध** हुआ। फलतः **गुण** नहीं हुआ। इस तरह **देवा इह** एक रूप सिद्ध हुआ। **लोपः शाकल्यस्य** से यकार का लोप न होने के पक्ष में **य्** जाकर **इह** के इकार से मिला तो **देवायिह** बन गया। यह **अवर्णपूर्व** का उदाहरण है, शेष उदाहरण आगे बताये जा रहे हैं।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि इस सूत्र में **भोस्+भगोस्**, **भगोस्+अघोस्**, **अघोस्+अपूर्वस्य** इन जगहों पर सकार को रुत्व होकर इसी सूत्र से यकारादेश होने पर उसका **हलि सर्वेषाम्** से लोप होकर **भो+भगो**, **भगो+अघो**, **अघो+अपूर्वस्य** बना। उसमें प्रथम रूप को छोड़कर शेष दो प्रयोगों में **एचोऽयवायावः** से **अव्** आदेश प्राप्त होता है किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** से त्रिपादी **हलि सर्वेषाम्** को असिद्ध कर दिये जाने के कारण **यकार** का लोप **एचोऽयवायावः** की दृष्टि में **असिद्ध** हुआ अर्थात् उसने बीच में **यकार** ही देखा। फलतः **अव्** आदेश नहीं हुआ। **भोभगोअघोअपूर्वस्य** ही रह गया।

यलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१०९. हलि सर्वेषाम् ८।३।२२॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि।

भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

रेफादेशविधायकं विधिसूत्रम्

११०. रोऽसुपि ८।२।६९॥

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

....

१०९- हलि सर्वेषाम्। हलि सप्तम्यन्तं, सर्वेषाम् षष्ठ्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **भोभगोअघोअपूर्वस्य** तथा **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** से **व्योः** में से केवल यकार का वचनविपरिणाम करके **यस्य** एवं **लोपः शाकल्यस्य** से **लोपः** की अनुवृत्ति आती है।

हल् परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है।

यह सूत्र त्रिपादी है, अतः इसके द्वारा **यकार** का लोप होने पर **आद्गुणः** आदि सपादसप्ताध्यायी सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध ही रहता है।

भो देवाः। हे देवताओं! **भोस्+देवाः** में **भोस्** के सकार को **ससजुषो रुः** से रुत्व, अनुबन्धलोप, **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **रेफ** के स्थान पर **यकार** आदेश करके **भोय्+देवाः** बना। **यकार** का **हलि सर्वेषाम्** से **लोप** होकर **भो देवाः** बन गया।

भगो नमस्ते। हे भगवन्! आपको नमस्कार है। **भगोस्+नमस्ते** में **भगोस्** के सकार को **ससजुषो रुः** से **रुत्व**, अनुबन्धलोप, **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **रेफ** के स्थान पर **यकार** आदेश करके **भगोय्+नमस्ते** बना। यकार का **हलि सर्वेषाम्** से लोप होकर **भगो नमस्ते** बन गया।

अघो याहि। हे पापी! चले जाओ। **अघोस्+याहि** में **अघोस्** के **सकार** को **ससजुषो रुः** से रुत्व, अनुबन्धलोप, **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** से **रेफ** के स्थान पर **यकार** आदेश करके **अघोय्+याहि** बना। **यकार** का **हलि सर्वेषाम्** से लोप हो गया, **अघो याहि** बन गया।

अभ्यासः

१. **रु** आदेश, **उत्व**, **यत्व** एवं **यलोप** करने वालों सूत्रों पर दो पृष्ठ की टिप्पणी लिखें

२. निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें-
हरिस्तिष्ठति। कृष्णस्तत्र। अतोऽत्र। भो देवदत्त। पण्डिता भाग्यवन्तः। अश्वा धावन्ति। नरो हन्ति। बाला आगच्छन्ति। कृतोऽत्र। पुनर्हसति।

३. रुत्व और उत्व में कौन किस के प्रति क्यों असिद्ध है? स्पष्ट करें।

११०- रोऽसुपि। रः प्रथमान्तम्, असुपि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **अहन्** से **अहन्** की षष्ठीविभक्ति में विपरिणाम करके अनुवृत्ति आती है।

रेफलोपविधायकं विधिसूत्रम्

१११. रो रि ८।३।१४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः।

दीर्घविधायकं विधिसूत्रम्

११२. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः।

पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्? तृढः। वृढः।

मनस् रथ इत्यत्र रुत्वे कृते **हशि च**ेत्युत्वे **रो री**ति लोपे च प्राप्ते-

....

अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है, किन्तु सुप् परे होने पर नहीं।

अलोऽन्त्यस्य-परिभाषा के बल पर **अहन्** के अन्त्य वर्ण के स्थान पर रेफ आदेश होगा किन्तु उस रेफ से परे सुप् विभक्ति नहीं होनी चाहिए। यह सूत्र **अहन्** के **नकार** के स्थान पर **रु** आदेश करने वाले **अहन्** इस सूत्र का बाधक है।

अहरहः। प्रतिदिन। **अहन्+अहन्** में **नित्यवीप्सयोः** से **अहन्** को द्वित्व हुआ है और सु विभक्ति का **स्वमोर्नपुंसकात्** से लुक् हुआ है। **रोऽसुपि** से दोनों **नकारों** के स्थान पर **रेफ** आदेश हुआ तो **अहर्+अहर्** बना। प्रथम का **रेफ** द्वितीय **अहन्** के साथ मिला, **अहरहर्** बना। द्वितीय रेफ का अवसान परे होने के कारण **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** से **विसर्ग** आदेश होकर **अहरहः** सिद्ध हुआ।

अहर्गणः। दिनों का समूहः। **अहन्+गणः** में **रोऽसुपि** से **अहन्** के **नकार** के स्थान पर **रेफ** आदेश हुआ। **अहर्+गणः** बना। **रेफ** का ऊर्ध्वगमन हुआ, **अहर्गणः** सिद्ध हुआ। यहाँ पर **अवसान** भी नहीं है और **खर्** परे भी नहीं है। अतः **रेफ** का **विसर्ग** नहीं हुआ।

१११- रो रि। रः षष्ठ्यन्तं, रि सप्तम्यन्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। **ढो ढे लोपः** से **लोपः** की अनुवृत्ति आती है।

रेफ के परे होने पर पूर्व रेफ का लोप होता है।

फलतः **दो रेफ** एक साथ कहीं भी नहीं मिलेंगे क्योंकि **दूसरे रेफ** के परे होने पर **प्रथम रेफ** का इस सूत्र से **लोप** हो जाता है।

११२- ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। ढ् च, र् च ढ्रौ, इतरेतरद्वन्द्वः। ढ्रौ लोपयतीति ढ्रलोपः, तस्मिन् ढ्रलोपे। ढ्रलोपे सप्तम्यन्तं, पूर्वस्य षष्ठ्यन्तं, दीर्घः प्रथमान्तम्, अणः षष्ठ्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

ढकार और रेफ के लोप होने में निमित्त भूत वर्ण रेफ और ढकार के परे होने पर पूर्व के अण् को दीर्घ होता है।

व्याकरणशास्त्र में दूसरे **ढकार** के परे होने पर पूर्व **ढकार** का लोप **ढो ढे लोपः** करता है और दूसरे **रेफ** के परे होने पर पहले **रेफ** का लोप तो **रो रि** करता ही है। इस तरह **ढकार** और रेफ के लोप होने में निमित्त बने **रेफ** और **ढकार** ही हैं।

परिभाषासूत्रम्

११३. विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्।

इति लोपे प्राप्ते **पूर्वत्रासिद्धमिति** रोरीत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

....

उनके परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् प्रत्याहार अर्थात् अ, इ, उ को दीर्घ कर देना इस सूत्र का कार्य है।

पुना रमते। पुनः रमण करता है। **पुनर्+रमते** में पूर्व रेफ का **रमते** के रेफ के परे **रो रि** से **लोप** हुआ। यहाँ पर **एक रेफ** के **लोप** में दूसरा **रेफ** निमित्त बना। यदि दूसरा रेफ न होता तो **प्रथम रेफ** के लोप की प्राप्ति ही नहीं होती। अतः **दूसरा रेफ** लोप का निमित्तक है। लोप होने पर **पुन+रमते** बना। **द्वितीय रेफ** के परे होने पर **पूर्व** में विद्यमान अण् **पुन** के **अकार** को **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घ होने पर **पुना रमते** सिद्ध हुआ।

हरी रम्यः। हरि सुन्दर हैं। **हरिस्+रम्यः** में **सकार** के स्थान पर **ससजुषोः रुः** से **रुत्व** होकर **हरिर्+रम्यः** बना। पूर्व रेफ का **रम्यः** के **रेफ** के परे **रो रि** से लोप हुआ। यहाँ पर भी **एक रेफ** के **लोप** में **दूसरा रेफ** निमित्त बना। यदि **दूसरा रेफ** न होता तो **प्रथम रेफ** के लोप की प्राप्ति ही नहीं होती। अतः **दूसरा रेफ** लोप का **निमित्तक** है। लोप होने पर **हरि+रम्यः** बना। **द्वितीय रेफ** के परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् **हरि** के **इकार** को **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घ होने पर **हरी रम्यः** सिद्ध हुआ।

शम्भू राजते। शिव जी शोभित होते हैं। **शम्भुस्+राजते** में **सकार** के स्थान पर **ससजुषोः रुः** से **रुत्व** होकर **शम्भुर्+राजते** बना। पूर्व रेफ का **राजते** के रेफ के परे **रो रि** से लोप हुआ। **हरि+रम्यः** बना। द्वितीय रेफ के परे होने पर पूर्व में विद्यमान अण् **शम्भु** के **उकार** को **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से दीर्घ होने पर **शम्भू राजते** सिद्ध हुआ।

अणः किम्? तृढः। वृढः। अब प्रश्न करते हैं कि **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** इस सूत्र में **अणः** पढ़ने की क्या जरूरत है? **ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत ढकार और रेफ के परे होने पर पूर्व को दीर्घ हो**, इतने मात्र अर्थ से **पुना रमते** आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते। उत्तर दिया- यदि **अणः** न पढ़ते तो **तृढः, वृढः** इन प्रयोगों में दोष आता अर्थात् यहाँ पर दीर्घ होने लगता। क्योंकि जब **अणः** नहीं पढ़ा जायेगा तो सूत्र **अण्** हो या **अण् से भिन्न** कोई भी **अच्** हो, उसको दीर्घ करने लगेगा। फलतः **तृह्, वृह्** धातु से **क्त** प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **तकार** को **धत्व**, **हकार** को **ढत्व**, **धकार** को **ष्टुत्व** आदि करके **तृढ्+ढः, वृढ्+ढः** बन जाने पर **ढो ढे लोपः** से लोप होने पर **तृ+ढः, वृ+ढः** बना हुआ है। यहाँ पर **ढकार** के लोप होने में निमित्तक **ढकार** परे है। अतः पूर्व **ऋकार** को दीर्घ होने लगता जिसके कारण **तृढः, वृढः** ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। उक्त अनिष्ट सिद्धि के निवारणार्थ इस सूत्र में **अणः** पढ़ा गया। **अण्** में **ऋकार** नहीं आता, अतः **ऋकार** को दीर्घ नहीं हुआ। यदि **अणः** यह पद न पढ़ते तो दीर्घ हो जाता।

११३- विप्रतिषेधे परं कार्यम्। विप्रतिषेधे सप्तम्यन्तं, परं प्रथमान्तं, कार्यं प्रथमान्तं, त्रिपदमिदं सूत्रम्।

तुल्यबल वाले सूत्रों में विरोध होने पर परकार्य होता है।

सुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

११४. एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१३२॥

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे।
एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्? एषको रुद्रः।
अनञ्समासे किम्? असः शिवः। हलि किम्? एषोऽत्र।

....

अष्टाध्यायी के क्रम से जो सूत्र पर अर्थात् **बाद** का हो उसे **परसूत्र** एवं उसके द्वारा किये जाने वाले कार्य को **परकार्य** कहते हैं। **अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः**। पृथक्-पृथक् स्थानों पर कार्य कर चुके सूत्र यदि कहीं एक साथ लगने के लिए प्रवृत्त हो जायें तो वह **तुल्यबलविरोध** कहाता है। यह सूत्र यह निर्णय देता है कि **तुल्यबलविरोध** होने पर **परकार्य** अर्थात् अष्टाध्यायी के क्रम में जो सूत्र पर हो, उस सूत्र के द्वारा किया जाने वाला कार्य हो जाना चाहिए। आगे **मनर्+रथः** में **हशि च** से **रेफ** के स्थान पर **उत्व** और **रो रि** से **रेफ** का लोप एकसाथ दोनों प्राप्त हुए। यही तुल्यबलविरोध हुआ। अतः इस सूत्र ने निर्णय दिया कि तुल्यबलविरोध होने पर **परकार्य** हो। अष्टाध्यायी के क्रम में परसूत्र **रो रि** ८।३।१४ परसूत्र है। यह आठवें अध्याय के तृतीय पाद का चौदहवाँ सूत्र है और **हशि चं** ६।१।१३४॥ पूर्वसूत्र है, क्योंकि यह छठे अध्याय के प्रथम पाद का एक सौ चौतीसवाँ सूत्र है। इस तरह इस परिभाषा सूत्र के नियमानुसार **रो रि** से रेफ का लोप होना चाहिए था किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियमानुसार **सपादसप्ताध्यायी** की दृष्टि में **त्रिपादी** सूत्र असिद्ध होते हैं। **रो रि** त्रिपादी है और **हशि च** सपादसप्ताध्यायी। त्रिपादी और सपादसप्ताध्यायी सूत्र एकत्र एक साथ लगने के लिए जहाँ पर प्रवृत्त होते हैं वहाँ **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियम से त्रिपादी असिद्ध होकर वापस चला जाता है। अतः **मनर्+रथः** में **रो रि** असिद्ध होकर **हशि** च से ही उत्व हो जायेगा। तात्पर्य यह हुआ कि **सपादसप्ताध्यायियों** में **तुल्यबलविरोध** होने पर परकार्य होता है अर्थात् **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** का नियम **सपादसप्ताध्यायियों** में ही फलित होता है, **सपादसप्ताध्यायी** एवं **त्रिपादियों** के बीच में नहीं।

मनोरथः। मन की इच्छा, अभिलाषा। **मनस्+रथः** में **सकार** के स्थान पर **ससजुषो रुः** से **रु** आदेश होकर अनुबन्धलोप होने पर **मनर्+रथः** बना। अब **रो रि** से रेफ का लोप भी प्राप्त हुआ और **हशि च** से उत्व भी एक साथ प्राप्त हुआ। **तुल्यबलविरोध** हुआ तो **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** से परकार्य होने का नियम कर दिया। इस नियम के अनुसार परसूत्र **रो रि** से रेफ का लोप होना था किन्तु **पूर्वत्रासिद्धम्** के नियमानुसार यह सूत्र **रो रि** के समक्ष असिद्ध हुआ। अतः **हशि च** से ही उत्व हुआ। रेफ के स्थान पर उकार आदेश होने पर **मन+उ+रथः** बना। **मन+उ** में **आद्गुणः** से गुण होकर **मनोरथः** सिद्ध हुआ।

११४- एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि। एतच्च तच्च- एतत्तदौ, तयोः- एतत्तदोः, इतरेतरद्वन्द्वः। सोर्लोपः- सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। न नञ्समासः- अनञ्समासः, तस्मिन् अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानः ककारो ययोस्तौ अकौ, तयोः- अकोः, बहुव्रीहिः। एतत्तदोः षष्ठ्यन्तं, सुलोपः प्रथमान्तम्, अकोः षष्ठ्यन्तम्, अनञ्समासे सप्तम्यन्तं, हलि सप्तम्यन्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्।

हल् के परे होने पर एतद् और तद् शब्द के बाद आने वाले सुप्रत्यय का लोप होता है किन्तु उन शब्दों में अकच् प्रत्यय न हुआ हो तो।

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः से एतत् और तद् शब्दों में अकच् होता है। विना **अकच्** के रूप **एष कृष्णः, स श्याम** और **अकच्** प्रत्यय वाला रूप **एषकः कृष्णः, सकः श्यामः**। सु का लोप हल् प्रत्याहार के परे रहने पर ही होगा। जैसे- **कृष्ण** का **ककार** हल्वर्ण परे है, श्याम का शकार हल्वर्ण है। यदि उस शब्द में नञ्समास हुआ हो तो भी नहीं होगा। जैसे- **न सः= असः**। इस तरह **एतद्** और **तद्** शब्द से **अकच्** प्रत्यय न हुआ हो, **नञ्समास** न हुआ हो और हल् परे हो तो **एतद्** और **तद्** शब्द से हुए प्रथमा एकवचन वाले **सुप्रत्यय** का **लोप** हो जाता है।

एष विष्णुः। ये विष्णु हैं। **एष+सु+विष्णुः** में सु यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला प्रत्यय है। **सु** उसमें **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्संज्ञा** हुई और **तस्य लोपः** से **उकार** का लोप हुआ तो उसमें केवल **स्** बचा। उस **सकार** का **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरञ्समासे हलि** से लोप हुआ, क्योंकि यहाँ **स्** से परे **हल्** भी है तथा **नञ्समास** भी नहीं है और अकच् प्रत्यय भी नहीं हुआ है। फलतः **सु** के **सकार** के लोप होने के बाद एष बचा। इस तरह **एष विष्णुः** बन गया।

स शम्भुः। वे शम्भु हैं। **स+सु+शम्भुः** में **सु** यह प्रथमा विभक्ति के एक वचन वाला प्रत्यय है। **सु** उसमें **उकार** की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से **इत्संज्ञा** हुई और **तस्य लोपः** से **उकार** का लोप हुआ तो उसमें केवल **स्** बचा। उस **सकार** का **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरञ्समासे हलि** से लोप हुआ, क्योंकि यहाँ **स्** से परे हल् भी है तथा **अकच्** प्रत्यय और **नञ्समास** भी नहीं हैं। **सु** के **सकार** के लोप होने के बाद **स** बचा। इस तरह स शम्भुः बन गया।

इस तरह से **अनञ्समास** में **हल्** परे होने पर **तद्** और **एतद्** शब्दों की **प्रथमा** के एकवचन में सु के लोपे होने के कारण कहीं भी विसर्ग नहीं रहता। **स गच्छति, स पठति, एष चलति, एष हसति** आदि।

अकोः किम्? **एषको रुद्रः**। सूत्र में यदि **अकोः** अर्थात् **अकच् प्रत्यय के ककार** से रहित एतद् और **तद्** शब्द ऐसा अर्थ न करते तो **एषको रुद्रः** में **एषकस्** के सु का लोप हो जाता और **एषक रुद्रः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। **अकोः** कहने से **अकच्** प्रत्यय वाले **एषक+स्** में **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** नहीं लगा। **एषक+स्+रुद्रः** में **सकार** के स्थान पर **ससजुषो रुः** से **रु** हुआ और उसके स्थान पर **हशि च** से **उत्व** हुआ, **एषक+उ+रुद्रः** बना। **एषक+उ** में **आद्गुणः** से **गुण** हो गया- **एषको रुद्रः** सिद्ध हुआ।

अनञ्समासे किम्? असः शिवः। सूत्र में यदि **अनञ्समासे** न कहते तो **अस+स्+शिवः** में दोष आता क्योंकि तब सूत्र **नञ्समास** में भी लगता और **अनञ्समास** में भी लगता। **असः** में **नञ्समास** हुआ है। यहाँ पर भी **सु** का लोप होकर **अस शिवः** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। **अनञ्समासे** कहकर **नञ्समास** के लिए निषेध होने के कारण **अस+स्+शिवः** में **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** नहीं लगा, **सु** का लोप नहीं हुआ अपितु **सु** वाले **सकार** को **रुत्व** होकर **विसर्ग** हो गया- **असः शिवः** सिद्ध हुआ।

सुलोपविधायकं विधिसूत्रम्

११५. सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४॥

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत।

सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। सैष दाशरथी रामः।

इति विसर्गसन्धिः॥४॥

....

हलि किम्? एषोऽत्र। सूत्र में यदि **हलि** न कहते तो **एष+स्+अत्र** में दोष आता क्योंकि तब सूत्र **हल् परे** होने पर भी लगता और **अच् परे होने पर** भी तथा **कोई भी परे न हो** तब भी लगता। **एष+स्+अत्र में अच्** परे है **अत्र** का **अकार**। यहाँ पर भी **सु** का लोप होकर **एष+अत्र** और सवर्णदीर्घ होकर **एषात्र** ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। **हलि** कहकर **अच्** परे होने पर निषेध होने के कारण **एष+स्+अत्र** में **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** नहीं लगा, **सु** का लोप नहीं हुआ अपितु **सु** वाले **सकार** को **रुत्व** होकर **अतो रोरप्लुतादप्लुते** से उत्व हो गया- **एष+उ+अत्र** बना। **एष+उ** में **आद्गुणः** से **गुण** होकर **एषोऽत्र** सिद्ध हुआ।

११५- सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्। पादस्य पूरणं पादपूरणम्, षष्ठीतत्पुरुषः। सः तद् इत्यस्य अनुकरणं षष्ठ्यर्थे प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तं, लोपे सप्तम्यन्तं, चेत् अव्ययपदं पादपूरणं प्रथमान्तम्, अनेकपदमिदं सूत्रम्। **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** से **सुलोपः** की अनुवृत्ति आती है और **स्यश्छन्दसि बहुलम्** से **बहुलम्** की अनुवृत्ति लाकर इस सूत्र में उसका अर्थ **एव** अर्थात् ही किया जाता है।

यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच् के परे होने पर तद् शब्द के सु का लोप हो जाय।

लौकिक **श्लोक** और वैदिक **मन्त्रों** में **पाद, चरण** होते हैं। लौकिक श्लोक में प्रायः चार चरण होते हैं और उनमें निश्चित संख्या में वर्ण हुआ करते हैं। एक अक्षर या एक मात्रा की भी न्यूनता या अधिकता होने पर छन्दोभंग हो जाता है। श्लोक को पद्य या छन्द भी कहते हैं। **अनुष्टुप्, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, गायत्री, त्रिष्टुप्** आदि छन्द होते हैं।

पाद अर्थात् श्लोक, वैदिक मन्त्र आदि का चरण। **अच्** परे होने पर इस सूत्र की आवश्यकता पड़ती है। **हल्** परे होने पर तो **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** से ही काम हो जाता है। यदि **सु** के लोप करने पर ही **पादपूर्ति** अर्थात् **छन्दः** ठीक बैठता हो तो **सु** का लोप हो, अन्यथा न हो।

सेमामविड्ढि प्रभृतिम्। यह **ऋग्वेद** के **जगतीच्छन्दः** वाले मन्त्र का **एक पाद** है **सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे।** इस छन्द के प्रत्येक पाद में बारह अक्षर होते हैं। **स+स्+इमामविड्ढि** में **सु** वाले **स्** का लोप होने पर बारह अक्षर बनते हैं और यदि लोप नहीं हुआ तो **सकार** को **रुत्व, यत्व** करके **यकार** का लोप करने पर **स+इमामविड्ढि प्रभृतिं य इशिषे** बनता है। त्रिपादी होने के कारण **यकार** का लोप असिद्ध होगा तो **स+इमा** में **आद्गुणः** से गुण भी नहीं हो सकेगा। अतः **स इमामविड्ढि प्रभृतिं य इशिषे** ऐसा बनेगा। अब पाद में बारह अक्षर होने चाहिए थे, तेरह अक्षर हो गये। इस तरह **छन्दोभंग** हुआ। यदि **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से **सकार** का लोप करते हैं तो **स+इमा** में गुण हो

जायेगा, क्योंकि यह सूत्र **सपादसप्ताध्यायी** का है। इसके द्वारा **सु** का लोप होने पर **आद्गुणः** की दृष्टि में **असिद्ध** नहीं होगा। **स+इ** में दो अक्षरों से एक ही अक्षर **से** बनेगा, जिससे पाद में बारह ही अक्षर रह जायेंगे। इस तरह पाद की पूर्ति होगी अर्थात् **छन्दः** ठीक से बैठेगा। अतः **सु** का लोप इस सूत्र से हो जाता है, फलतः **सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे** सिद्ध हो जाता है। यह वैदिक मन्त्र का उदाहरण है। लौकिक श्लोक के चरण का उदाहरण आगे देखिये।

सैष दाशरथी रामः। ये वे ही दशरथ-पुत्र राम हैं। यह **अनुष्टुप्-छन्दः** का एक **चरण** अर्थात् **पाद** है। इस छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। **स+स्+एष दाशरथी रामः** में **सु** वाले **स्** का लोप होने पर आठ अक्षर बनते हैं और यदि लोप नहीं हुआ तो **सकार** को **रुत्व, यत्व** करके **यकार** का लोप करने पर **स+एष दाशरथी रामः** बनता है। **त्रिपादी** होने के कारण **यकार** का लोप **असिद्ध** होगा तो **स+एष** में **वृद्धिरेचि** से वृद्धि भी नहीं हो सकेगी। अतः **स एष दाशरथी रामः** ऐसा बनेगा। अब पाद में **आठ** अक्षर होने चाहिए थे, नौ अक्षर हो गये। **छन्दोभंग** हुआ। यदि इस सूत्र से **सकार** का लोप करते हैं तो **स+एष** में वृद्धि हो जायेगी, क्योंकि यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी का है। **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** के द्वारा **सु** का लोप होने पर **वृद्धिरेचि** की दृष्टि में असिद्ध नहीं होगा। **स+ए** में दो अक्षरों से एक ही अक्षर **सै** बनेगा, जिससे पाद में **आठ** ही अक्षर रह जायेंगे। पाद की पूर्ति होगी अर्थात् **छन्दः** ठीक से बैठेगा। अतः **सु** का लोप इस सूत्र से हो जाता है। फलतः **सैष दाशरथी रामः** सिद्ध हो जाता है।

सैष दाशरथी रामः यह लौकिक उदाहरण है। इससे सम्बन्धित एक श्लोक प्रसिद्ध है, जिसमें चारों पादों में इस सूत्र के उदाहरण मिलते हैं-

सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महादानी, सैष भीमो महाबलः॥

(ये वे भगवान् दशरथपुत्र श्रीराम हैं, ये वे राजा युधिष्ठिर हैं, ये वे महादानी कर्ण हैं और ये वे ही महाबली भीम हैं।)

जहाँ लोप करके नहीं अपितु अन्य किसी कारण से पादपूर्ति हो जाती है वहाँ तो **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से सु का लोप नहीं होता है। जैसे **सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्** भी **अनुष्टुप् छन्दः** का **चरण** है। यहाँ पर सु का लोप करते हैं तो **स+अ=सा, साहमाजन्मशुद्धानाम्** बन जाता है। ऐसा बनने पर भी **छन्दोभंग** तो नहीं हो रहा है किन्तु **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से सु का लोप न करने पर भी **स्** को रुत्व करके **अतो रोरप्लुतादप्लुते** से उत्व और **स+उ** में गुण करके **सो+अहम्** में **एङः पदान्तादति** से पूर्वरूप करने पर भी पादपूर्ति होती है, **सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्** बनता है। **एक चरण** में **आठ** अक्षर होने चाहिए, **आठ** ही अक्षर बनते हैं और **छन्दोभंग** भी नहीं होता है। अतः अन्य कारणों से **पादपूर्ति** हो रही है, इसलिए **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** से सु का लोप नहीं होगा।

परीक्षा

सन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ। इसके बाद भी आप वैसे ही करें जैसे **संज्ञाप्रकरण, अच्सन्धि** और **हल्सन्धि** के अन्त में निर्देश दिया गया है। अब परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए आपको कम से कम ४० अंक प्राप्त करना अनिवार्य है। प्रत्येक प्रश्न पाँच-पाँच अंक के हैं।

१- व्याकरण के तीन मुनि कौन कौन हैं?

२- अभी तक आपने जितने सूत्र पढ़े उनमें किसी प्रत्याहार को लेकर कार्य करने वाले सूत्र कौन कौन से हैं?

३- यदि प्रत्याहार न बनते तो '**इको यणचि**' इस सूत्र के स्थान पर क्या और कैसा बनाना पड़ता? कल्पना कीजिए।

४- अच्सन्धि के कोई पाँच प्रयोग सिद्ध करें।

५- हल्सन्धि के भी पाँच प्रयोग सिद्ध करें।

६- विसर्गसन्धि के भी कोई पाँच प्रयोग सिद्ध करें।

७- सवर्णसंज्ञा के विषय वमें आप क्या जानते हैं? समझाइये।

८- हल्सन्धि, अच्सन्धि और विसर्गसन्धि की तुलना कीजिए।

९- स्थान और प्रयत्न से आप क्या समझते हैं?

१०- अव तक की प्रगति के आधार पर आप लघुसिद्धान्तकौमुदी को आगे कितने महीने में पूर्ण करेंगे?

श्री वरदराजाचार्य के द्वारा रचित लघुसिद्धान्तकौमुदी में
गोविन्दाचार्य की कृति श्रीधरमुखोल्लासिनी हिन्दी व्याख्या का
विसर्गसन्धिप्रकरण पूर्ण हुआ।